विवेक शिखा

श्री रामकृष्ण-विवेकानन्द भाव-धारा की एकमात्र हिन्दी मासिक

७ फरवरी—१९८८ अंक—

श्रीमत् स्वामी निखिलेश्वरानन्द

मूल्य :

रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा-८४१३०१ (बिहार)

विवेक शिखा के आजीवन सदस्य

२१. श्रीराम विलास चौधरी—सुपौल, दरभंगा (बिहार)
२२. डा० रमेश चन्द्र प्रसाद - देवघर (बिहार)
२३. श्री मातादीन मिश्र—सारण (बिहार)
२४. एम० एम० नावालगी—कादरा (कर्नाटक)
२५. श्री हेमराज साहू—नरसिंहपुर (म० प्र०)
२६. डा० प्रकाश चन्द्र मिश्र—पटना (बिहार)
२७. श्री विनोद ब्रजभूषण अग्रवाल—नागपुर (महाराष्ट्र)
२८. श्री केशरदेव भालोटिया—जरमुण्डी (बिहार)
२९. श्री धर्मवीर शर्मा—खण्डवाया (उत्तर प्रदेश)
३०. श्री शिवशंकर सुखदेव पाटील—शेगाँव (महाराष्ट्र)
३१. श्री गजानन महाराज संस्थान—शेगाँव (महाराष्ट्र)
३२. श्री दयाशंकर तिवारी—
लाल बाजार, सीवान (बिहार)
३३. श्री राजकुमार गडोडिया - अपर बाजार (राँची
३४. कुमारी चुक चुक —बेलगाँव (महाराष्ट्र)
३५. डॉ० श्रीमती वीणा कर्ण —पटना (बिहार)
३६. डॉ० सम्पत पाटील —भदोल (महाराष्ट्र)
३७. श्री रमाशंकर राय—वाराणसी
३८. श्री आर० के० यादव—फैजाबाद
३९. कुमारी अल्पना सकलेचा—बम्बई
४०. श्री हिम्मत लाल रणछोड़दास शाह—बम्बई
४१. श्री नीरज गुप्ता—रायपुर (मध्य प्रदेश)
४२. डॉ० गीता देवी—४४, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४३. डॉ० शील पाण्डेय—४१, टैगोर टाउन, इलाहाबाद
४४. श्री रामानन्द गुप्ता— बिसवा (उत्तर प्रदेश)
४५. श्री निशीथ कुमार बोस—तपन प्रिंटिंग प्रेस, पटना
४६. श्री नरेश कुमार कश्यप—नागपुर (महाराष्ट्र)
४७. श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द समिति--अमरावती, महारा
४८. डॉ० दर्शन लाल—कुराली (पंजाब)
४९. श्री गोविन्द ढनढ़निया—कलकत्ता (प० बंगाल)
५०. श्री निखिल शिवहरे—दमोह (म० प्र०)
५१. श्री बी० भी० नागोरी—कलकत्ता (प० बंगाल)
५२. श्री पवन कुमार वर्मा—समस्तीपुर (बिहार)
५३. श्री विनुभाई भलाभाई पटेल—खेड़ा (गुजरात)
५४. श्री एस० सी० डाबरीवाला—कलकत्ता (प० बं०)
५५. श्री गोपाल कृष्ण दत्ता—जयपुर (राजस्थान)
५६. श्री बृजेश चन्द्र बाजपेई —जयपुर (राजस्थान)
५७. श्री बनवारी लाल सर्राफ—कलकत्ता (प० बं०)

इस अंक में

पृष्ठ

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत
उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—७ फरवरी—१९८८ अंक—२

इष्टदेव का हृदय कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक
डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक
शिशिर कुमार मल्लिक
श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :
रामकृष्ण निलयम्
जयप्रकाश नगर,
छपरा—८४१३०१
(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	३०० रु०
वार्षिक	१० रु०
रजिस्टर्ड डाक से	३५ रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग-राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजनेकी कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

यदि तुम माया को पहचान लो तो वह स्वयं ही तुम्हें छोड़कर भाग जाएगी, जैसे गृहस्थ यदि जान जाए कि घर में चोर आया है तो चोर अपने आप भाग जाता है।

(२)

जीव के अस्तित्व की कल्पना वैसी ही है जैसे कोई गंगा का कुछ भाग घेर ले और कहे कि यह हमारी निजी गंगा है।

(३)

एक बार यदि किसी की भगवन्नाम की शक्ति पर विश्वास हो जाए और वह सतत नाम जपने लगे तो फिर उसके लिए विवेक-विचार या अन्य किसी भी तरह के साधन-भजन की आवश्यकता नहीं रह जाती। उसके सब सन्देह दूर हो जाते हैं, चित्त शुद्ध हो जाता है तथा नाम की सामर्थ्य से स्वयं भगवान् का साक्षात्कार हो जाता है।

(४)

ज्ञान मानो पुरुष है और भक्ति नारी। ज्ञान भगवान् के बैठकखाने तक जा सकता है, परन्तु भक्ति उनके अन्तःपुर में प्रवेश कर सकती है।

(५)

हृदय में ईश्वर के आगमन का लक्षण क्या है? जिस प्रकार उषा की लाली सूर्य के उदित होने की सूचना देती है उसी प्रकार निःस्वार्थता तथा सज्जनता ईश्वर के आगमन की सूचना देती है।

भजन

गौड़ सारंग-त्रिताली

भव-भय-भञ्जन, पुरुष निरंजन, रति-पति-भंजन-कारी।
यति-जन-रंजन, मनोमद-खण्डन, जय भव-बन्धन-हारी॥
जय जन-पालक, सुरदल-नायक, जय-जय विश्व-विधाता।
चिर-शुभ-साधक, मति-मल-पावक, जय चित-संशय-त्राता॥
सुर-नर वन्दन, विजर विवन्दन, चित-मन-नन्दन-कारी।
रिपु-चय-मन्थन, जय भवतारण, स्थल-जल-भूधर-धारी॥
शम-दम-मण्डन, नटवर नागर, जय-जय मंगल-दाता।
जय सुख-सागर, नटवर नागार, जय शरणागत-पाता॥
भ्रम-तम-भास्कर, जय परमेश्वर सुखकर-सुन्दर-भाषी।
अजल सनातन, जय भव-पावन, जय विजयी अविनाशी॥
भक्त विमोहन, वरतनु-धारण, जय हरिकीर्तन-भोला।
गद-गद-भाषण चित-मन-तोषण, ढल-ढल-नर्तनलीला॥
मति-गति वर्द्धन, कलि-बल-मर्दन, विषय-विरागप्रसारी।
जड़-चित-चेतक, भव-जल-भेलक, जय-नर-मानस-चारी॥
जय पुरुषोत्तम, अनुपम संयम, जय जय अन्तरयामी।
खरतर-साधन, नर-दुःख-वारण, जय रामकृष्ण नमामि॥

भावार्थ—भव भय को दूर करने वाले, निरंजन पुरुष, काम को दमन करने वाले, साधु संतों को आनन्द देने वाले, मन के (अहंकारादि) मद को मंडन करने वाले संसार बंधन को दूर करने वाले, हे रामकृष्ण, तुम्हारी जय हो। जन के रक्षक, देवताओं के स्वामी विश्व के विधाता, तुम्हारी जय हो। सब मंगलों को शीघ्र पहुँचाने वाले, बुद्धि की मलिनता को विशुद्ध और चित के संशयों को दूर करने वाले, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो।

देवता और मनुष्य जिनकी वन्दना करते हैं जो अजर, बन्धन रहित, और लोगों के चित्त और मन को आनन्द देने वाले हैं, जो शत्रु-समूह को (काम क्रोधादियों को) मन्थन करने वाले, संसार-समुद्र को पार कराने वाले, स्थल, जल और आकाश धारण करने वाले हैं, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो। शमदम से युक्त, अभय के धाम, मंगलों के दायक, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो। सुख के सागर, नटवर नागर, शरणागत के पालक, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो।

भ्रम रूपी अन्धकार को मिटाने के लिए तुम सूर्य हो, सुखप्रद सुन्दर भाषी हो, हे परमेश्वर तुम्हारी जय हो। अचल, सनातन, संसार को पवित्र करने वाले, विजयी, अविनाशी, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो। भक्त को मुग्ध करने वाले, श्रेष्ठ शरीरधारी हरिकीर्तन में उन्मत्त होने वाले, तुम्हारी जय हो। तुम्हारे (भावोन्मत्तता से) गद गद भाषण, और मनोहर नृत्य से भक्तों के चित्त और मन संतुष्ट होते थे।

मन की आध्यात्मिक गति बढ़ाने वाले, कलिमल को मर्दन और विषयों के प्रति वैराग्य दृढ़ करने वाले, जड़ मन को ज्ञान देने वाले, संसार जल को शोषण करने वाले, मनुष्य के मन में विचरण करनेवाले, हे रामकृष्ण, तुम्हारी जय हो। हे पुरुषोत्तम, अनुपम संयमी, तुम्हारी जय हो, हे अन्तर्यामी तुम्हारी जय हो; तीव्र साधना करने वाले, नर के दुःख दूर करने वाले, हे रामकृष्ण तुम्हारी जय हो, तुम्हें प्रणाम।

सम्पादकीय सम्बोधन

इक्कीसवीं सदी और श्रीरामकृष्ण

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

अक्सर लोग पूछते हैं, खासकर नयी पीढ़ी के लोग, स्कूल कॉलेज में पढ़नेवाले युवा छात्रगण, कि आज हम इक्कीसवीं सदी के दरवाजे पर खड़े हैं, मात्र बारह वर्षों के बाद हम इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर जायेंगे, ऐसी स्थिति में उन्नीसवीं सदी के मध्य के देवमानव श्रीरामकृष्ण हमें कौन सी प्रेरणा दे सकते हैं ? इक्कीसवीं शताब्दी अर्थात् वैज्ञानिक सभ्यता, तकनोकी-प्रौद्योगिकी परिवेश, कम्प्यूटर की संस्कृति । और श्रीरामकृष्ण अर्थात् कुछ धर्म-चेतनाओं के अस्थि धर्ममय विग्रह । कहाँ तालमेल है दोनों में ?

नयी मनीषा पीछे की ओर मुड़ना नहीं चाहती । चाहिए भी नहीं । नयी वैज्ञानिक दृष्टि, बौद्धिक चेतना, कर्मदक्षता, उन्मुक्त जीवन शैली और तकनीकी विकास को छोड़कर, एक विलक्षण ऊर्जा के संभार से स्पन्दित आगत के आलोक से मुँह मोड़ कर क्या हम मुट्ठीभर धर्मोपदेशों से आक्रान्त विगत के दामन को पकड़े रहकर संघर्षशीलता की नयी दुनिया में जीवित रह भी सकते हैं ? शायद नहीं। तो फिर श्रीरामकृष्ण हमारे जीवन में कहाँ उतर सकते हैं, कैसे उतर सकते हैं, क्यों उतर सकते हैं ? निश्चय ही ये प्रश्न युव जनों को मथ देते हैं ।

कहाँ एक अपढ़ अशिक्षित, गँवार, गरीब ब्राह्मण, मात्र ढाई रुपये प्रतिमाह पर रानी रासमणि के काली मन्दिर में सेवारत पुजारी, आधुनिक सभ्यता से कोसों दूर, कभी नग्न कभी अर्द्ध नग्न होकर सदैव भावोन्माद में रहनेवाले रामकृष्ण और कहाँ अपार ऊर्जा और शक्ति के व्यस्त विद्युतकणों से चौंधियाने वाली रोशनी लेकर उतरती हुई इक्कीसवीं सदी की सभ्यता ! नहीं, कोई तालमेल, कोई मिलन बिन्दु नहीं है दोनो में ।—सोचती है नयी पीढ़ी ।

मगर ठहरिए। आतुरता में लिया गया निर्णय विनाशकारी, आत्मघाती और विध्वंसक सिद्ध हो सकता है। श्रीरामकृष्ण इक्कीसवीं सदी के मानव, मानव-सभ्यता और विश्वजीवन के लिए एक अनुपेक्षणीय अनिवार्यता हैं, एकान्त आवश्यकता हैं। क्यों ?

इक्कीसवीं सदी विज्ञान की सदी होगी, कार्यक्षमता और तर्कसम्मत, बुद्धिगम्य वैचारिकता की सदी होगी, बौद्धिक ऊर्जा से उपलब्ध संसाधनों के उन्मुक्त भोग की सदी होगी। यह सदी उस नदी की भाँति होगी जिसके प्रवाह में ठहराव या पड़ाव नहीं, केवल आकुल गतिशीलता होगी, हर पिछली लहर अगली लहर को ठेलती-धकेलती आगे बढ़ने को आतुर-विकल होगी और वह भी बिना यह जाने कि इस आतुर यात्रा का अन्तिम लक्ष्य क्या है, इस महाभिनिष्क्रमण का चरम उद्देश्य क्या है।

क्या श्रीरामकृष्ण में बौद्धिक ऊर्जा नहीं थी ? क्या उनकी दृष्टि वैज्ञानिक नहीं थी ? क्या उनकी जीवन-शैली सत्य के उद्घाटन के लिए सतत् समर्पित नहीं थी ? जरा हम विचारें।

इक्कीसवीं सदी की सभ्यता मानव-मस्तिष्क की उस साधना या शिक्षण की प्रस्तुति या उपज होगी जिसे हम विज्ञान कहते हैं। किन्तु विज्ञान है क्या ? विज्ञान के दो पक्ष हैं—एक है विशुद्ध विज्ञान, वह विज्ञान जो एक आतुर जिज्ञासा के साथ प्रत्यक्ष अनुभवों के सत्य को जानने के लिए आन्तरिकता पूर्वक प्रयास करता है और दूसरा है प्रयुक्ति या प्रायोगिक विज्ञान, वह विज्ञान जिसमें

विशुद्ध विज्ञान के द्वारा उद्घाटित सत्य आविष्कार के रूप में मानव जीवन की तकनीकी सम्पन्नता के लिए कार्य करता है। प्रथम को ज्योतिर्मय विज्ञान (Science as lucifera) और दूसरे को फलीभूत विज्ञान (Science as fructifera) कहते हैं। ज्ञान से शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति के द्वारा हम प्रकृति की शक्तियों का नियमन करते हैं तथा अपने अनुकूल कार्यों का सम्पादन करते हैं। विशुद्ध विज्ञान की नयी खोज आगे चलकर प्रायोगिक विज्ञान में बदल जाती है, प्रकृति की शक्तियों के नियमन और मनोनुकूल संचालन में परिवर्तित हो जाती है। मानव मष्तिष्क की यह एक विलक्षण शक्ति है जिससे वह पहले प्रकृति में छिपे सत्य की खोज करता है और फिर उस खोज के द्वारा उसी प्रकृति की शक्ति का नियमन कर उसे अपनी सुविधा के लिए, सुखों के लिए संचालित करने लगता है। इस प्रकार एक पर एक सत्य का उद्घाटन करते हुए मानव आज नाभिकीय विज्ञान और अंतरिक्ष यात्रा तथा अंतरिक्ष-युद्ध के विलक्षण युग में पहुँच गया है।

किन्तु इस विज्ञान की अपनी सीमाएँ हैं। कुछ आधुनिक महान पदार्थ वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विज्ञान ने हमारे इर्द-गिर्द के जिस विश्व को उद्घाटित किया है वह इस जगत का केवल बाहरी पक्ष है। इस इन्द्रिय गोचर जगत के पीछे एक अदृश्यमान जगत भी है। विज्ञान केवल उन्हीं प्रतीयमान वस्तुओं का विवेचन करता है जो हमारी इन्द्रियों के समक्ष प्रकट हैं अथवा जिन्हें कुछ उपकरणों से हम अपनी इन्द्रियों के समक्ष प्रकट कर सकते हैं। विज्ञान केवल जगत के दृश्यमान अंश को समझने तथा इसकी ऊर्जाओं को मानवोपयोगी बनाने तक ही अपने को सीमित रखता है। किन्तु इन्द्रियातीत जगत को जाने बिना हम जगत के मूल सत्य को जान ही नहीं सकते हैं।

श्रीरामकृष्ण फलमय विज्ञान की अपेक्षा ज्योतिर्मय विज्ञान के साधक हैं। इतना ही नहीं, वे इन्द्रिय-गोचर जगत की अपेक्षा इन्द्रियातीत जगत के अंतर्निहित सत्यों को उद्घाटित करने के लिए अपने प्राणों की आतुरता, गहरी आंतरिकता और तीव्र उत्कंठा से लीन होकर तब तक नहीं रुकते जब तक उस सत्य को जान नहीं लेते। इसी से उन्होंने 'चावल-सब्जी' दिलाने वाली विद्या प्राप्त करने से अपनी किशोरावस्था में ही मुँह फेर लिया था।

सत्य की खोज में उद्विग्न, आधुनिकता की समस्त विशिष्टताओं से सम्पन्न नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) जिस दिन श्रीरामकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुए थे उस दिन मानो इक्कीसवीं सदी ही अपनी सीमाओं से उद्विग्न अधीर होकर चिरन्तन लौकिक सत्य के शोधक के समक्ष नतमस्तक हुई थी।

औपनिषदिक युग में एक महाविद्यालय के अधिष्ठाता महर्षि शौनिक ने ऐसी ही उद्विग्नता लेकर महर्षि अंगिरा के समक्ष उपस्थित हो जिज्ञासा की थी—'**कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति**।" (मुण्डक १/३) अर्थात् 'हे भगवन् यह बताइये कि किस एक को जान लेने पर सबकुछ जान लिया जाता है?' महर्षि अंगिरा ने कहा—'**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**' अर्थात् विद्याएँ दो हैं—परा और अपरा। वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि अपरा विद्या हैं तथा जिससे वह अविनाशी परब्रह्म तत्व से जाना जाता है वह परा विद्या है। अपरा लौकिक विद्या है। यह विज्ञान का वह पक्ष है जिससे भौतिक दृश्यमान जगत को जाना जाता है। और परा वह विद्या है,

विज्ञान का वह पक्ष है जिससे इन्द्रियातीत जगत के सत्य का उद्घाटन किया जाता है।

श्रीरामकृष्ण परा विद्या के साधक थे। विश्व के परा विद्या के साधकों के इतिहास में श्रीरामकृष्ण अद्वितीय थे। सत्य को जानने की ऐसी तीव्र पिपासा इनके पूर्व किसी में थी, मुझे नहीं मालूम। परा विद्या के किसी एक पक्ष को ही जानकर विश्व के महान साधक भगवान् के रूप में मान्य हो गये। किन्तु श्रीरामकृष्ण की सत्यानुसंधान की यात्रा असीमित थी। उन्होंने सगुण साकार, सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार,—द्वैत, विशिष्टद्वैत, शुद्धाद्वैत, सबकी साधना की। शैव, शाक्त, तांत्रिक, वैष्णव सभी पद्धतियों की साधना की। इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म के बाहर ईसाई और इस्लाम धर्मों की भी साधना की। लगता है, सत्य के परिज्ञान की इतनी गहरी पिपासा थी श्रीरामकृष्ण में कि वे किसी एक पथ पर चलकर ही विश्राम नहीं लेना चाहते। उस अनन्त को जानने-परखने के जो भी मार्ग हो सकते हैं, वे सब पर चले। यह है विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि। यही है इक्कीसवीं सदी के मनुष्यों के लिए एक दिशा-संकेत। यह दृष्टि नहीं अपनाने पर हम केवल फलमय विज्ञान के पुजारी होकर भौतिक सुखों के एक निरीह भोक्ता हो जायेंगे। फिर तो इक्कीसवीं सदी हमारे दुःखों का कारण ही बनी रहेगी।

श्री रामकृष्ण की वैज्ञानिक दृष्टि की एक और महिमा है। अनन्त को जानकर अखिल जगत को उसी सत्य के रूप में उन्होंने देखा। वे जगत में व्याप्त परम चैतन्य से एकमेक हो गये, सान्त होकर अनन्त से समरस हो गये। इसी से डालपर लगे फूल उन्हें ईश्वर पर चढ़े दीखते थे, दूब पर चलने में उन्हें कष्ट होता था और किसी मछुआरे की पीठ पर तमाचे लगने पर उनकी पीठ पर दाग उभर आता था। यानी विश्व-चेतना से ही वे जुड़ गये थे। इक्कीसवीं सदी में अगर हमने यह दृष्टि नहीं पायी तो हमारी वैज्ञानिकता का दावा खोखला ही बना रहेगा।

एक बात और। अब तक के अवतार श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री बुद्ध, श्री महावीर, मुहम्मद सभी जन्म से ही श्रीसम्पन्न थे। राजे-महाराजे थे। वे बड़े थे और मानव की तरह उन्होंने आचरण किया था। इसी से उनके कर्म लीला थी। किन्तु, श्रीरामकृष्ण जन्म से निर्धन थे, विपन्न थे, दरिद्र थे। वे जन्म से मनुष्य थे और उन्होंने ईश्वर की भाँति आचरण किया था। एक मनुष्य अपने को कैसे ईश्वर बना सकता है - श्रीरामकृष्ण ने प्रदर्शित कर दिखाया। यही हमारे जीवन का उद्देश्य होना चाहिए। हम मनुष्य हैं, भोग के लिए नहीं। हम मनुष्य हैं देवत्व में रूपान्तरित होने के लिए। और स्वयं देवता बनकर श्रीरामकृष्ण संतुष्ट नहीं होते हैं। वे श्री सारदा देवी की पूजा जगद्धात्री के रूप में कर के उन्हें भी मानुषी से भवतारिणी बना देते हैं। अर्थात् स्वयं देवत्व प्राप्त करना काफी नहीं है, हमें देवत्व प्राप्त कर सब को उसी महत् रूप में प्रतिष्ठित कर देना होगा। यह है सच्ची वैज्ञानिकता, सच्ची सत्यानुसन्धान की दृष्टि। इक्कीसवीं सदी में अगर हम इस दृष्टि को लेकर प्रवेश नहीं करते तो इक्कीसवीं सदी का नारा एक सूखा रसहीन कोलाहल मात्र होकर रह जायगा।

भगवान श्रीरामकृष्ण से मेरी आंतरिक प्रार्थना है कि वे हमें वह वैज्ञानिक चेतना प्रदान करें जिससे हम जगत में अन्तर्निहित परम सत्य का शोधकर स्वयं को देवत्व में ढाल सकें तथा अखिल जड़-चेतन के साथ एकात्मता का बोधकर जीवन और जगत् को धन्यता प्रदान कर सकें। जय श्रीरामकृष्ण।

सेवामूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस

—स्वामी आत्मानंद

— सचिव, रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (मध्यप्रदेश)

विश्व के आध्यात्मिक इतिहास में श्रीरामकृष्ण परमहंस का स्थान अतुलनीय है। उनके जीवन में आध्यात्मिक अनुभूतियों की जितनी विविधता दिखायी देती है, उतनी और किसी महापुरुष के जीवन में दृष्टिगोचर नहीं होती। उनका जीवन मानो धर्म और अध्यात्म की एक विराट प्रयोगशाला था, जहाँ अनेक नवीन भावों का आविष्करण और पुनस्करण सम्पन्न हुआ था। उनके जीवन के द्वारा प्रकट सेवाभाव उनकी इन्हीं आध्यात्मिक अनुभूतियों का बाहरी प्रकाश था।

श्रीरामकृष्ण परमहंस निर्विकल्प समाधि की उपलब्धि कर अद्वैतानुभूति में प्रतिष्ठित हो गये थे। फलस्वरूप, सर्वत्र उन्हें उसी एक आत्मज्योति के दर्शन होते। उनकी अवस्था "आत्मवत् सर्वभूतेषु" की हो गयी थी। उनकी यह एकत्वानुभूति इतनी तीव्र और गहरी थी कि किसी व्यक्ति के हरी हरी दूब को रौंदते हुए चलने पर उन्हें लगा कि वह उनकी छाती को ही रौंदते हुए चला जा रहा है। दो माझियों में लड़ाई हो जाने से एक ने दूसरे की पीठ पर जोरों से तमाचा जड़ दिया। श्रीरामकृष्ण को ऐसा लगा कि वह तमाचा उन्हें ही लगा है और वे पीड़ा से कराह उठे। उनकी पीठ पर उंगलियों के निशान उभर आये, मानो माझी ने उन्हीं की पीठ पर तमाचा मारा हो।

ये घटनाएँ अविश्वसनीय होने पर भी सत्य हैं। श्रीरामकृष्ण का सेवाभाव उनके इसी एकत्वानुभव पर खड़ा था। वेदान्त-दर्शन का सर्वोच्च लक्ष्य यही एकत्वानुभूति है। श्रीरामकृष्ण ने वेदान्त को अपने जीवन में उतार कर यह प्रदर्शित कर दिया कि वह केवल बुद्धि का व्यायाम नहीं है, केवल तर्कणाओं और युक्ति विचारों का जाल नहीं है, बल्कि जीवन का अनुभूतिगम्य सत्य है। उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि वेदान्त को व्यावहारिक बनाया जा सकता है, और इस व्यावहारिक वेदान्त को उन्होंने सेवा के नाम से पुकारा। उनका तर्क यह था कि जब सारा संसार उसी ईश्वर से निकला है, उसी में प्रतिष्ठित है और एक दिन उसी में लीनता को प्राप्त हो जायगा, तो फिर ईश्वर छोड़ संसार में और क्या है? इसका यही तात्पर्य हुआ कि वही ईश्वर, जो मुझमें समाया है, एक पीड़ित के भीतर भी छिपा है। तो क्या यह उचित नहीं कि हम पीड़ित में निहित उस ईश्वर की सेवा के लिए आगे बढ़ जाएँ? जो ईश्वर पर विश्वास करता हुआ भी दुःखी के भीतर विराजमान ईश्वर की सेवा के लिए चेष्टाशील नहीं है, श्रीरामकृष्ण की दृष्टि में उस व्यक्ति का ईश्वर में विश्वास होना या न होना बराबर है। इस दृष्टि से उन्होंने सेवा पर एक नया प्रकाश डाला और इस प्रकार इसे दया से भिन्न कर दिया।

यह सन् १८८४ ई० की घटना है। श्रीरामकृष्ण देव दक्षिणेश्वर-स्थित काली मन्दिर के अपने कमरे में भक्तों से घिरे बैठे हुए थे। नरेन्द्र भी वहाँ उपस्थित थे, जो बाद में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विश्व—विख्यात हुए। वार्तालाप के प्रसंग में वैष्णव-मत की बात उठी। इस मत के सार तत्व को संक्षेप में व्यक्त करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले "इसके अनुसार ये तीन बातें नित्य करणीय हैं—नाम में रुचि, जीव पर दया और

वैष्णव की सेवा। जो नाम हैं, वहीं ईश्वर हैं—नाम और नामी को अभिन्न जानकर सर्वदा अनुरागपूर्वक नाम जपना चाहिए, भक्त और भगवान, कृष्ण और वैष्णव को अभिन्न जानकर सर्वदा साधु—भक्तों के प्रति श्रद्धा और उनकी सेवा करनी चाहिए तथा यह सारा विश्व कृष्ण का ही है ऐसा समझकर सब जीवों पर दया........."। "सब जीवों पर दया" इतना कहकर ही श्रीरामकृष्ण समाधिस्थ हो गये। वे वाक्य को पूरा भी न कर पाये। कुछ समय पश्चात् जब उनकी अर्धचेतना लौटी, तो वे कहने लगे, "जीवों पर दया, जीवों पर दया ? दूर हो मूर्ख। तू कीटाणु कीट। जीवों पर दया करेगा ? दया करनेवाला तू होता कौन है ? नहीं, नहीं,—जीवों पर दया नहीं, शिवज्ञान से जीवों की सेवा।"

नरेन्द्र यह सुनते ही चमत्कृत हो उठे। उन्हें लगा कि "दया" और "सेवा" का ऐसा अन्तर सम्भवत: पहले किसी ने नहीं किया था। "दया" कहने से प्रतीत होता है मानो दया करने वाला बड़ा है और जिस पर दया की जा रही है, वह छोटा। इस प्रकार दया की प्रक्रिया ऊंच और नीच के भेद को बनाये रखकर चलती है। पर "सेवा" कहने से—"शिव-ज्ञान से जीवों की सेवा" कहने से बोध होता है कि वही शिव, जो स्वयं सेवा करने वाले के भीतर विराजमान हैं, उसके भीतर भी बसे हुए हैं, जिसकी सेवा की जा रही है। इस प्रकार यहाँ भेद का नहीं, अभेद का प्रकाश है, ऊँच-नीच का नहीं, समानता का व्यवहार है।

ये वही नरेन्द्र नाथ थे, जो निर्विकल्प समाधि के आनन्द में डूबे रहना चाहते थे। पहले उन्हें सेवा आदि की बात भाती नहीं थी। एक समय जब वे समाधि में डूबने के लिए अत्यन्त व्याकुल थे तो श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकान्त में बुलाकर स्नेहपूर्वक पूछा था, "नरेन्द्र तू क्या चाहता है?" इस पर नरेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया था, "महाराज, आशीर्वाद दीजिए कि मैं योगी शुकदेव की भाँति निर्विकल्प समाधि के आनन्द में अहर्निश डूबा रहूँ और जब समाधि से उतरूँ तो शरीर को बनाये रखने के लिए थोड़ा सा अन्न पेट में डाल लूँ और फिर से समाधि में डूब जाऊँ।"

पर यह सुनकर श्रीरामकृष्ण प्रसन्न नहीं हुए थे, अपितु उन्होंने नरेन्द्र का तिरस्कार करते हुए कहा था, "छि: छि: नरेन्द्र। कहाँ मैं सोचता था कि तू एक विशाल वट वृक्ष के सामान होगा, जिसकी छाँह तले लाखों थके-माँदे लोग विश्राम ग्रहण करेंगे और कहाँ देखता हूँ तू अपनी मुक्ति के लिए कातर हो रहा है। अरे बेटा। अपनी मुक्ति की चेष्टा से भी उच्चतर अवस्था है।" और बाद में श्रीरामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ को समझा दिया था कि जीव में शिव को देखकर, नर में नारायण को देखकर उस शिव या नारायण की सेवा ही अपनी मुक्ति के प्रयास से भी बढ़कर है।

तभी तो नरेन्द्रनाथ ने स्वामी विवेकानन्द बनकर अपने गुरुदेव श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेशानुसार "दरिद्रनारायण" की सेवा का प्रवर्तन किया। देश के युवकों का आह्वान करते हुए उन्होंने कहा था—तुम्हें अभी तक पढ़ाया गया है—मातृदेवो भव, पितृ-देवों भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, मैं तुम लोगों को आगे का पाठ पढ़ाता हूँ—दरिद्र देवो भव, पीड़ित देवो भव, आर्तदेवो भव, । उन्होंने और कहा था—— "सारी उपासना का सार है पवित्र होना और दूसरों की भलाई करना। जो शिव को दीन-हीन में, दुर्बल में और रोगी में देखता है, वही वास्तव में शिव की उपासना करता है, और जो शिव को केवल मूर्ति में देखता है, उसकी उपासना तो केवल प्रारम्भिक हैं। जो मनुष्य शिव को केवल मन्दिरों मे देखता है, उसकी अपेक्षा शिव उस व्यक्ति पर अधिक प्रसन्न होते है, जिसने बिना किसी प्रकार जाति, धर्म या सम्प्रदाय का विचार किये, एक दीन—हीन में शिव को देखते हुए उसकी सेवा और सहायता की है।"

स्वामी विवेकानन्द ने सेवा की अपनी सारी प्रेरणा अपने गुरुदेव से प्राप्त की थी। श्रीरामकृष्ण का जीवन ही सेवामय था, वे सही अर्थों में सेवामूर्ति थे। अन्तिम समय में जब उन्हें गले का कैंसर हो गया था और चिकित्सकों ने उन्हें बोलने से मना किया था, तब भी वे आगत जिज्ञासुओं से वार्तालाप करना बन्द न करते। सेवकों और भक्तों के अधिक निषेध करने पर कहते, "यदि एक व्यक्ति की सहायता करने मुझे बीस हजार भी जन्म लेने पड़े तो स्वीकार है।" सेवा की उनकी यह आन्तरिकता उनके सर्वोत्तमबोध पर प्रतिष्ठित थी, जिसका बड़ा ही मार्मिक परिचय हमें उनके जीवन की एक घटना से मिलता है।

पंडित शशधर शास्त्री तर्कचूड़ामणि श्रीरामकृष्ण की अस्वस्थता का समाचार सुन उन्हें देखने आये। शास्त्रीजी का नाम उनकी विद्वत्ता और पांडित्य के लिए बंगाल भर में विख्यात था। तब श्रीरामकृष्ण गले के रोग के कारण अन्न ग्रहण नहीं कर सकते थे। उन्हें तीव्र वेदना हुआ करती। शास्त्रीजी ने उन्हें सुझाव दिया, 'महाराज, हमारे योगशास्त्रों का कथन है कि यदि योगी अपने किसी रुग्ण अंग पर मन को केन्द्रित करे, तो उससे अंग स्वस्थ हो जाता है। आप तो महान योगी हैं। आप क्यों नहीं अपने मन को गले पर एकाग्र करके रोग को ठीक कर लेते? इस पर श्रीरामकृष्ण ने कुछ खींझ के स्वर में कहा, "कैसे पण्डित हो जी? जिस मन को मैंने जगदम्बा के पादपद्मों में समर्पित कर दिया है, तुम कहते हो कि उसे मैं वहाँ से वापस ले लूँ और इस हाड़-मांस के सड़े-गले पिण्ड पर लगा दूँ? ऐसी बात कहते तुम्हें लज्जा नहीं आती?" और सचमुच शास्त्री जी लज्जित हो गये। उन्होंने क्षमा याचना कर कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण से विदा ली। शास्त्रीजी के जाने के बाद नरेन्द्रनाथ ने श्रीरामकृष्ण को पकड़ा, कहा, "महाराज शास्त्रीजी ने तो ठीक ही कहा। आपको इतना कष्ट है, आप कुछ खा-पी नहीं सकते, इसलिए हम लोग भी अत्यन्त दुःखी हैं। आप, कम से कम, हम लोगों के लिए अपने मन को गले पर केन्द्रित कीजिए न!" श्रीरामकृष्ण बोले, 'आखिर तू भी वही कहता है रे। मैं यह नहीं कर सकता।' पर जब नरेन्द्र ने खूब जोर दिया, तो उन्होंने कहा, 'मैं कुछ नहीं जानता, माँ जगदम्बा जैसा करेंगी वैसा होगा।' नरेन्द्र इस पर बोले, 'महाराज, आप जो कहेंगे, सो जगदम्बा करेंगी। आप हम लोगों के लिए माँ से कहिए न!' लाचार हो श्रीरामकृष्ण ने कहा, "ठीक है देखूँगा।" थोड़ी देर बाद नरेन्द्र ने आकर पूछा, 'महाराज, आपने हमारी बात माँ से कही थी?' वे उत्तर में बोले, 'हाँ, मैंने माँ से कहा—माँ, नरेन्द्र कहता है कि इस रोग के कारण मैं कुछ खा-पी नहीं सकता हूँ, इसलिए इन लोगों को बहुत कष्ट होता है, इसलिए नरेन्द्र कहता था कि मैं तुझसे इस रोग को ठीक कर देने के लिए कहूँ, जिससे मैं कुछ खा-पी सकूँ ताकि ये लोग भी सुखी हों।' तो फिर माँ ने क्या कहा, महाराज, नरेन्द्र अत्यन्त उत्सुक हो उनकी बात को बीच में काट बोल उठे। 'क्या बताऊ रे,' श्रीरामकृष्ण ने मानो सोच में पड़कर कहा, 'माँ ने मेरी बात सुनकर तुम सब लोगों को इशारे से दिखाकर मुझसे कहा—क्या तू इतने मुँहों से नहीं खाता, जो तुझे खाने के लिए अपना अलग से मुँह चाहिए? यह सुनकर मैं तो चुप हो गया। अब तू ही बता इसका मैं माँ को भला क्या उत्तर देता?' श्रीरामकृष्ण की अनुभूति की ऐसी व्यापकता को देख नरेन्द्र नाथ भी निरुत्तर रह गये, उनके मुख से कोई शब्द न फूटा।

तो यह वह एकत्वानुभुति थी, जो सेवामूर्ति श्रीरामकृष्ण परमहंस के अपूर्व सेवामय जीवन का अटूट प्रेरणा-स्रोत थी।

श्रीरामकृष्ण लीलागीति : बाल्यपर्व

लेखक : 'आनन्द'
नागपुर

कामारपुकुर का भक्त-परिवार

अवतारों और ऋषि-मुनियों की जन्मभूमि पुण्यभूमि भारत ! स्वर्ग के देवतागण भी इस भूमि में जन्म लेने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं। इस धर्मभूमि के पूर्व में शस्यश्यामल बंगदेश है। इस बार जगदीश्वर ने इसी बंगदेश को अपनी लीलाभूमि बनाया। बंगभूमि में एक बड़ा मनोहर गाँव है—कामारपुकुर। सब ओर हरे-भरे धान के खेत, बगीचे और शीतल छायामय पेड़। जगह-जगह दर्पण की तरह स्वच्छ जल से पूर्ण तालाब। उनमें कमल खिले हुए।

इस सुन्दर गाँव में लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले एक अत्यन्त धार्मिक ब्राह्मण निवास करते थे। उनका नाम था खुदिराम चट्टोपाध्याय। वे निर्धन थे पर सत्य-निष्ठा, संतोष, क्षमा, त्याग आदि सद्‌गुणों के धनी। उनके तपोमय, भगवत्परायण जीवन के लिए ग्रामवासी उनका बड़ा सम्मान करते थे। खुदिरामजी को भग-वान रामचन्द्र ने अलौकिक रूप से दर्शन देकर रघुवीर शिला प्रदान की थी, जिसकी वे नित्य भक्तिपूर्वक पूजा किया करते थे। घर में शीतला देवी की भी नित्यपूजा होती थी। शीतला देवी भी खुदिरामजी को दर्शन दिया करतीं। सभी परिस्थितियों में संपूर्णतया ईश्वर-निर्भर ये शांत सौम्य धीर ब्राह्मण सभी की श्रद्धा के पात्र थे।

खुदिरामजी की सहधर्मिणी—चन्द्रमणि देवी स्नेह और सरलता की मूर्त्ति थीं। उनकी सहानुभूति और उदारता से कोई भी वंचित नहीं था। दीन-दुःखी, भिक्षुक, साधु, अतिथि सभी के लिए उनके द्वार सदा खुले रहते—कोई उनके घर से विमुख नहीं जाता। चन्द्रमणि देवी बड़ी शुद्धहृदय और भक्तिपरायण थीं। उन्हें भी देवी-देवताओं के दर्शन हुआ करते थे।

खुदिराम-चन्द्रमणि के रामकुमार व रामेश्वर नामक दो पुत्र और कात्यायनी नाम की एक कन्या थी। यह छोटा-सा भक्त परिवार कामारपुकुर में अत्यन्त शान्ति और सन्तोष के साथ सुखपूर्ण जीवन बिता रहा था। इसी परिवार में इस बार लीलामय श्रीभगवान् ने जन्मग्रहण करने का निश्चय किया।

यत्र निर्लिप्तभावेन संसारे वर्तते गृही।
धर्मं चरति निष्कामं तत्रैव रमते हरिः ।।

आइए, श्रद्धासहित इस महाभाग्यवान् परिवार की वन्दना करें—

शंकरा तीनताल

धन्य-धन्य कामारपुकुर का परम भक्त-परिवार।
लीलामय प्रभु नारायण ने लिया जहाँ अवतार ।।
खुदिराम पिता, चन्द्रा माता, महिमा का नहिं पार।
उनके पावन चरणों में है, वन्दन बारम्बार ।।

गयाधाम का स्वप्न

सन् १८३५ में तीर्थयात्रा करते हुए खुदिरामजी गयाधाम पहुँचे। वह चैत्रमास था—जिसे कहते हैं मधुमास। प्रायः एक माह तक गया में रहते हुए उन्होंने यथाविधि पितृतर्पण आदि किये और अन्त में पतितपावन भगवान गदाधर के श्रीचरणों में पितरों के उद्देश्य से पिण्डदान किया। उनका मन दिव्य शान्ति

और तृप्ति से परिपूर्ण हो गया। भगवान की वन्दना में वे विभोर हो गये—

ॐ शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभांगम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैक नाथम्॥
त्रैलोक्यपूजित: श्रीमान् सदा विजयवर्धन:
शान्तिं कुरु गदापाणे नारायण नमोऽस्तुते॥

प्रेमपूर्ण अन्त:करण से द्विजवर दिनभर भगवान् की प्रार्थना करते रहे। रात्रि में वे शान्त निद्रा में मग्न हो गये। नींद में उन्हें एक दिव्य स्वप्न दिखाई दिया। नवदूर्वादलश्याम, ज्योतिर्मयतनु, शंखचक्र गदा पद्मधारी भगवान् नारायण उनके सामने प्रकट हुए और मधुर गम्भीर स्वर में बोले—

(दरबारी तीनताल)

भक्तिभाव तव देख मैं हुआ अति प्रसन्न खुदिराम।
पुत्र रूप से सेवा लेने आऊँगा तव धाम॥

खुदिराम चौंक उठे और अपनी चिरदैन्यमयी परिस्थिति का स्मरण कर बोल उठे—

(दरबारी तीनताल)

नहीं-नहीं प्रभु, मुझे नहीं इस परम भाग्य से काम।
सेवा कैसी होगी घर में, जहाँ न धन का नाम॥
दर्शन दिये नाथ करुणा कर, पूर्ण किया मनकाम।
धन्य हुआ, कृतकृत्य हुआ मैं, लो चरण में प्रणाम॥

वे परमपुरुष खुदिराम के इस विनयपूर्ण वचन से और अधिक प्रसन्न हो बोले—

(मालकंस रूपक)

भय नहीं खुदिराम तुमको, मत करो इनकार।
प्रेम से दोगे मुझे जो करूँगा स्वीकार॥
मैं न तो ऐश्वर्य चाहूँ, ना विविध उपचार।
तुष्ट होता भक्ति से मैं, भक्ति ही है सार॥

प्रभु की तो प्रतिज्ञा ही है कि—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मन:॥

खुदिराम कुछ कह नहीं सके। प्रेमानन्द से गद्‌गद हो गये। हर्ष और उदासी की सम्मिश्र भावना से हृदय भर गया। मन एक अननुभूत भाव से अभिभूत हो गया। और निद्रा भंग हुई।

भक्त ब्राह्मण का हृदय बोल उठा—'यह देवस्वप्न कभी व्यर्थ नहीं होगा। भगवान नारायण शीघ्र ही मुझ दीन की कुटिया में आविर्भूत होंगे।' किसी से कुछ न कहते हुए वे कामारपुकुर की ओर चल पड़े।

चन्द्रमणि देवी के दिव्य अनुभव

अवतारों का जन्म दिव्य, अपार्थिव हुआ करता है। उनके जन्म-ग्रहण के पहले उनके माता-पिताओं को अलौकिक दर्शनादि हुआ करते हैं। यह बात हम भगवान रामचन्द्र, श्रीकृष्ण, गौतम बुद्ध, शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि सभी की जीवनी में लिपिबद्ध पाते हैं।

माता चन्द्रमणि को भी इसी बीच—खुदिरामजी की अनुपस्थिति में—कुछ दिव्य अनुभूतियाँ हुईं और उन्हें प्रतीत होने लगा कि उनके गर्भ में एक दिव्य तेज प्रविष्ट हुआ है। इसका परिणाम उनके बाह्य रूप, गुण आदि पर स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगा। खुदिरामजी घर आते ही समझ गये कि चन्द्रमणि के देह-मन और स्वभाव में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया है। मानवी चन्द्रा अब मानो देवीत्वपद पर आरूढ़ हो चुकी थीं। पर सरल हृदय ग्रामीण नारी इन सब का अर्थ न समझ पा भयभीत हो रही थी।

पति के घर आने पर उनकी जान में जान आयी। उन्होंने पति से सब अनुभूतियाँ कह सुनायीं—

चन्द्रामाता कहती हैं—

(भैरव कहरवा)

सुनो प्रभु एक अपूरब बात
गयाधाम तुम गये हुए थे, दिखा सपन इक रात॥

लेटे थे शय्या पर मेरे एक देवता साथ।
दिव्य कांति की छटा बिखेरे, ज्योतिर्मय था गात ।।
जाग पड़ी घबड़ाकर मैं तो, बहुत बची थी रात।
सपन न था वह, जागृति में भी राजमान थे साथ ।।
दीप जला कर देखा तब थी सूनी शय्या नाथ।
सो न सकी फिर भय से मैं तो —'कब होगी परभात' ।।

"भोर ही उठकर मैंने देखा—दरवाजा तो भीतर से बंद था। फिर मैंने धनी लुहारिन और प्रसन्नमयी को बुलाकर सब हाल कह सुनाया। पूछा, भला घर में कौन घुसा होगा ? उन्होंने हँसकर कहा —'अरी यह सपना है। यह सब किसी से मत कहना—नहीं तो लोग बदनाम करेंगे।' तब से मैं तुम्हारी ही राह देख रही थी।

"यही नहीं, और एक अपूर्व घटना घटी—

(कीर्त्तन की धुन दादरा)

सुनो और अजब ढंग।
जिसको सुनाऊँ यह प्रसंग, वही होत दंग ।।
मैं शंकर-मन्दिर समीप खड़ी धनी-संग।
थी बात कर रही, तब देखा अपूर्व रंग ।।
इक दिव्य ज्योति प्रकट हुई, तज शिव का अंग।
और द्रुतगति बढ़ आयी मेरी ओर बन तरंग ।।
कर प्रवेश तन में छा गयी अंग-अंग।
कुछ कह न सकी, सुध खो गिर पड़ी ज्यों अपंग ।।
धनि की सेवा से हुई मूर्च्छा जब भंग।
तब से प्रतीत होवे कोई राज रहा संग ।।
मैं कासे कहूँ मन की बिथा दुखित अंतरंग।
कोई बूझ न पाए, हँसी उड़ाए, सुनके ये प्रसंग ।।

खुदिराम को समझने में देर नहीं लगी कि दिव्य-ज्योति के रूप में ज्योतिवर्धन प्रभु ने चन्द्रामणि के गर्भ में प्रवेश किया है। उनके हृदय का श्रद्धा-विश्वास और दृढ़ हुआ। भोली-भाली चन्द्रामणि देवी को धीरज बँधाते हुए वे बोले—

(कीर्त्तन की धुन—कहरवा)

सुनो चन्द्रमणि एक बात मेरी।
यह सब किसी को न बतलाना।
यह सपन नहीं, यह दर्शन है—
प्रभु को इस घर में है आना ।।
मैं गया गया था, मुझे वहाँ
दर्शन दे प्रभु ने यही कहा—
'आ पुत्र रूप में तेरे यहाँ
मैं चाहूँगा सेवा पाना ।।

नारायण अब घर आवेंगे। प्रेम सुधारस भर लावेंगे।
पावन लीला दरसावेंगे। करुणाधारा बरसावेंगे ।।

खुदिराम और चन्द्रदेवी भक्तिपूर्ण हृदय से नारायण के आगमन की राह देखने लगे। चन्द्रमणि को नित्य देवीदेवताओं के दर्शन होते, दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ती, दिव्य सुगन्ध का आघ्राण होता। ढलती उम्र में भी उनका रूपलावण्य इतना निखर उठा कि, लोग आश्चर्यचकित हो कहते—'अबकी शायद ब्राह्मणी नहीं बचेंगी।' अखिलसौंदर्यनिधान को उदर में धारण जो किया था!

गदाधर का जन्म

दिन बीतते गये। शरद् हेमंत और शीत जाकर ऋतुराज वसंत आ उपस्थित हुआ। जीवजगत् में सर्वत्र नयी चेतना छा गयी—जागरण आ गया। स्थावर-जंगम, जड़-चेतन समस्त सृष्टि आनंद और प्रेम की प्रेरणा से पुलकित हो उठी। पेड़-पौधे-वनस्पति नये पत्रों और पुष्पों से सुशोभित होकर नेत्रों को हरसाने लगे—पक्षी आनंदगान करने लगे।

१७ फरवरी १८३६ का दिन था। श्रीरघुवीर के भोग की रसोई बनाते हुए चन्द्रादेवी को शरीर में अवसन्नता महसूस होने लगी। पर पूजा-सेवा में कोई बाधा नहीं आयी। दिन बीत गया। रात के तीन पहर बीत गये। चन्द्रादेवी को प्रसूतिवेदना होने लगी। धनी लुहारिन उन्हें उस कमरे में ले गयीं जहाँ धान कूटने की

ढेंकी और एक चूल्हा था। ब्राह्ममुहूर्त में चन्द्रादेवी ने पुत्ररत्न को जन्म दिया।

जन्मते ही नवजात शिशु फिसलता हुआ चूल्हे की राख में जा पड़ा और अपनी क्षुद्र देह को विभूतिविभूषित कर डाला। जीवन में सर्वस्वत्याग का चरम आदर्श जो दिखाना था! धनी ने दीपक के उजाले में शिशु को देखा। वह अत्यंत प्रियदर्शन था। छह मास के बच्चे की तरह हृष्ट-पुष्ट और चपल था।

उस दिन ब्राह्मण की कुटीर में आनन्द की बहार छा गयी। ग्रामवासी शिशु को देखने दौड़.दौड़ कर आने लगे। सारा कामारपुकुर एक अनिर्वचनीय आनन्द में मग्न हो गया। स्वयं आनन्दघन भुवनमनमोहन भगवान जो आये हुए थे—

(चलिए कुछ क्षण के लिए हम भी चलें और इस दिव्यबालक के दर्शन कर ग्रामवासियों के आनन्द में सह भागी बनें)

(झुमुर—खेमटा)

वैकुंठ छोड़ आज हरि आये धराधाम में।
कामारपुकुर ग्राम में, कामारपुकुर ग्राम में।।
मगन हुआ जगत आज पावन प्रभु-नाम में।
कामारपुकुर ग्राम में, कामारपकुर ग्राम में।
शुद्ध दूज की तिथि है, फागुन का मास।
प्रकट हुए परब्रह्म करन मोहनाश।।
सुजनपरित्राण और दुष्टदमन काम में।।....
खुदीरामचन्द्रामणि धन्य हुए आज।
दीन के कुटीर में पधारे महाराज।
आनन्द का अन्त नहीं दिवस अष्टजाम में।।...

खुदिराम और चन्द्रामणि का हृदय आनन्द के साथ ही साथ एक प्रकार के दुःख से अभिभूत हो गया। तो सचमुच ही वे त्रिभुवनपावन नारायण हमारे यहाँ चले आये! क्या हम दीनदुःखियों के दुःख हरने के लिए ही उनका आगमन है? क्या वे सचमुच हमारे दुःखों के सहभावी, समदुःखी हैं?'

(शहाना तीनताल)

दुखिया माँ की कोख धन्यकर, धराधाम में उजयाली भर।
कहो कौन तुम बाल रूप धर, आज पधारे दीनों के घर।।
भूतल में तुम अतुलनीय हो, दुखियों के परम-आत्मीय हो,
देख धरा को शोकतप्त क्या, आये दुःख से होकर कातर।।
क्या दुखियों को देने दर्शन, आये रूप छिपाकर भगवन्।
हँसते रोते किसके कारण, क्या जग के सुख-दुःख देखकर?

पाठशाला

यथाकाल बालक का नामकरण हुआ। गयाधाम के स्वप्न का स्मरण करते हुए खुदिराम ने उसका नाम रखा 'गदाधर'। प्यार से पुकारने के लिए जिसका संक्षिप्त रूप हुआ 'गदाई,। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की—यह शिशु जगत्पूज्य होगा, युगधर्मसंस्थापक होगा।

माता-पिता और ग्रामवासियों के लाड़-दुलार में शिशु गदाई दिन दूना रात चौगुना बढ़ने लगा। शीघ्र ही वह बोलना सीख गया। उसकी बुद्धि और स्मृति-शक्ति बड़ी तीव्र थी। बड़े लोग उसे जो कुछ सिखाते—धार्मिक कथाएँ, श्लोक या भजन आदि—उसे एक बार सुनते ही वह कंठस्थ कर लेता। वह बड़ा ही विनोद-प्रिय था और नृत्य,अभिनय आदि कर सभी को आनन्द देता था। उसकी विलक्षण आकर्षणशक्ति थी जिससे सभी ग्रामवासी उसकी ओर खिंचे चले आते थे। गदाई नटखट भी कम नहीं था परन्तु उसकी शरारतों से कभी किसी को क्लेश नहीं पहुँचता। बल्कि सब का चित्त-बिनोदन ही होता। उसकी सभी बालसुलभ चेष्टाओं की ओट से एक अपूर्व पवित्र एवं दिव्य भाव झलकता। गाँव की रमणियाँ उसे देखने आकर चन्दामणि से कहतीं—

(कीर्त्तन की धुन—दादरा)

सुन चन्द्रामाई, तेरो गदाई, जिय को बहुत लुभावे।
शिशु बनकर हरि आये घर, कोई न समझ पावे।।
झूमत चलत, हसत बोलत, डोलत डोलत आवे।
मधुर गावत, नाच दिखावत, सुधबुध बिसरावे।।

कभी नटखट आके पनघट-निकट धूम मचावे ।
जल उड़ावत, हमें चिढ़ावत, मन्द-मन्द मुसकावे ।।
कुछ कहो तो न माने, भय नाहीं जाने, और अधिक सतावे ।।
हम क्रोध दिखावें, मन में भावे, कछु समझ न आवे ।।
है कौन गदाधरलाल ।
माई कहे मेरो मन, द्विज शिशु बन, आया है ब्रजगोपाल ।।

वास्तव में करुणाधन भगवान जिन पर प्रसन्न होते हैं उन्हें इसी प्रकार अपनी ओर खींचा करते हैं जिससे धीरे-धीरे उनका संसार के प्रति खिंचाव कम होने लगता है। कामारपुकुर की भोली-भाली सरल हृदय रमणियाँ बाल गदाई के विलक्षण आकर्षण से नित्य खिंची चली आतीं। वे इस प्रबल आकर्षण का कारण समझ नहीं पातीं। वे कहतीं—

(बाउलों की धन—दादरा)

हे गदाई, कहो भाई, कौन तुम हमारे ।
ना पड़त चैन, दिवस रैन, बिन दरस तुम्हारे ।
मधुर गान, हरत प्राण, जगत का न रहत भान ।
देह-गेह स्वजन-स्नेह, भूल गये सारे ।। (हम...
निरखि रूप धन्य नैन, श्रवण धन्य सुनि सुबैन ।
सकल काज सफल आज, पा तुझे दुलारे ।

गदाई जब पाँच वर्ष का हुआ तो उसे गाँव की पाठशाला में भेजा गया। गदाई ने पाठशाला में कुछ लिखना-पढ़ना तो सीख लिया पर गणित में वह कभी मन नहीं लगा सका। हिसाब के प्रति उसके मन में तीव्र वितृष्णा सदा बनी रही।

आनन्दमय बालक पाठशाला के बाल साथियों के साथ खूब खेलता कूदता। वह बड़ा ही प्रेमी और मिलनसार था। उसकी बहुमुखी प्रतिभा अनेक क्षेत्रों में प्रकट होने लगी। गीत, अभिनय, चित्रकला आदि सूक्ष्म कलाविषयों में उसकी विलक्षण निपुणता देखकर लोग आश्चर्यचकित रह जाते। उसके हृदय की पवित्रता और एकाग्रता असामान्य थी। वह जब भक्तिभाव में तन्मय होकर कोई भजन गाता या रामायण-महाभारत आदि धार्मिक ग्रन्थ पढ़ सुनाता तो श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते। उनके हृदय में भी विशुद्ध भक्तिभाव का संचार होता। इसीलिए तो गाँव की स्त्रियाँ जल्दी-जल्दी अपने काम-काज निपटाकर चन्द्रामाता के घर दोपहर में एकत्र होतीं। गदाई को देखे और उसके वचन सुने बिना उन्हें चैन नहीं मिलता।

यह दिव्य आकर्षण था—आत्मिक आकर्षण था। गदाधर सभी की अन्तरात्मा जो था!

प्रथम समाधि

आत्मा की –जीव-जगत् के यथार्थ स्वरूप की — उपलब्धि जिस देहातीत अवस्था में होती है, उस परमोच्च समाधि अवस्था की प्रथम अनुभूति गदाई को बाल्यकाल में ही हुई।

प्रियदर्शन और स्वास्थ्यवान् बालक गदाधर निर्मल और उन्मुक्त ग्रामीण वातावरण में बड़ा होने लगा। उसका हृदय अत्यन्त सरल और शुद्ध था, इसलिए उसकी एकाग्रता और गंभीरता भी अपूर्व थी। बालक अब छः-सात वर्ष का था।

ज्येष्ठ या आषाढ़ मास था। एक दिन हाथ में एक छोटी सी टोकरी में मुरमुरे लेकर खाते हुए गदाई खेतों के बीच में से अकेला गुजर रहा था। इतने में आसमान के एक कोने में कहीं से एक टुकड़ा बादल आ मंडराने लगा। देखते ही देखते बादल ने पूरे आसमान को छा डाला। काली घटा घिर आयी। और इसी समय कुछ दूध की तरह शुभ्र बगुले कतार बाँधकर उड़ते हुए आये और उन काले बादलों की गोद में से होकर गुजरने लगे। मानो नवघनश्याम के गले में शुभ्र कुन्द की माला लहरा रही हो। उस मनोहर दृश्य को देखते-देखते गदाई भावविभोर हो गया। उसका मन एक इन्द्रियातीत राज्य में जा पहुँचा। बाह्य चेतना विलुप्त हो गयी। वह बेहोश हो गिर पड़ा। मुरमुरे इधर-उधर बिखर गए।

काफी देर तक गदाई वहीं पड़ा था। बाद में कुछ लोगों ने उसे वहाँ पाया। वे उसे उठाकर घर ले आये।

चन्द्रामणि और खुदिराम, 'बालक मूच्छित हो गया' सोचकर चिंतित हुए पर होश में आने पर बालक बोला—

'मैं बड़े आनन्द में था।'

यह वह असीम आनन्दस्वरूप की अनुभूति थी जो संसार के परे है, जहाँ संसार के दुःख-क्लेशों का स्पर्श तक नहीं होता। उस आनन्द का शब्द द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता। ऋषि कहते हैं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान न विभेति कुतश्चन॥

पितृवियोग

यह संसार सदा परिवर्तनशील है। कालचक्र अविराम घूमता जाता है। मानव जीवन में प्रवाह की तरह सुख और दुःख आते-जाते रहते हैं।

गदाई अभी आठ ही वर्ष का हुआ था। ऐसे समय उसके प्रिय पिता खुदिराम का देहांत हो गया। उस निर्धन भक्तपरिवार में घोर शोक की अँधियारी छा गयी। माता चन्द्रामणि शोक से जर्जर हो गयीं। बड़े भाई रामकुमार के कंधे पर गृहस्थी का सारा भार आ पड़ा। गदाई के बाल मन पर इस दारुण घटना का गहरा प्रभाव पड़ा। वह गंभीर, अंतर्मुख और अधिक विचारशील होन लगा। उसका संवेदनक्षम हृदय माता के दुःख से समदुःखी था। वह माता को आनन्द देने और उनका भार कम करने के लिए तरह-तरह से प्रयत्न करता। घरेलू कामकाजों में हाथ बँटाता, माता की सेवा करता।

पितृवियोग के दुःख को भूलने के लिए वह ग्रामीण धार्मिक नाटक, भजन, मूर्तिगठन आदि में भी भाग लेने लगा।

गाँव में एक धर्मशाला थी, जहाँ तीर्थयात्री साधु-वैरागी आकर कुछ दिन ठहरा करते थे। गदाई के मन में सर्वस्वत्यागी ईश्वर-निर्भर साधु-संतों के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण था ही। अब वह धर्मशाला में जाकर इन साधुओं के सत्संग में समय बिताने लगा। उनकी सेवा करने लगा और उनसे धार्मिक आख्यान, भजन आदि सीखने लगा।

वैष्णव साधुओं के साथ गदाई भी गाता—

हरे मुरारे मधुकैटभारे गोपाल गोविंद मुकुंद शौरे।
हरि हरये नमो कृष्ण यादवाय नमो।
यादवाय माधवाय केशवाय नमो॥

शिवभक्त साधुओं के साथ वह शिव के भजन गाता—

(खमाज तीनताल)

जय जय शंकर भोला त्रिपुरारी। शिवशंकर भोला त्रिपुरारी॥

व्याघ्रचर्मासन विभूतिभूषण, पतितपावन दमनकारी
जटाजूटमंडित पावनकारी। शैलविहारी विपिनविहारी॥

इस प्रकार बाल गदाधर के ग्रहणशील मन पर त्याग वैराग्य- भगवद्भक्ति के शुभ संस्कार दृढ़ होते गये।

गदाई कभी शरीर में विभूति भस्म रमाये साधु के वेश में घर आता और माँ से कहता—'माँ, देखो, मैं साधु बना हूँ।' बेचारी चंद्रादेवी डरती थी कि कहीं ये साधु मेरे बच्चे को पकड़ न ले जाएँ। साधुओं को यह बात ज्ञात होते ही उन्होंने चंद्रामणि देवी को आश्वासन देकर उनका भय दूर किया।

विशालाक्षी के पथ पर

इन्हीं दिनों गदाई के जीवन में भावसमाधि की दूसरी बार अनुभूति हुई। घटना इस प्रकार हुई।

कामारपुकुर से तीन मील की दूरी पर आनुड़ नामक गाँव है, जो विशालाक्षी देवी के मंदिर के लिए प्रसिद्ध है। यह देवी बड़ी जाग्रत हैं। एक बार गाँव की कुछ स्त्रियाँ किसी व्रत के उपलक्ष्य में देवी को पूजा चढ़ाने चलीं। साथ में उन्होंने गदाई को भी ले लिया क्योंकि वह सभी की आँखों का तारा था। फिर वह देवी महिमा के कई गीत भी जानता था। उन ग्रामवासिनियों के अनुरोध से बालक गदाई देवीमहिमा के गीत गाता हुआ आनंद से चलने लगा। अभी मंदिर आया नहीं था। बीच ही में अचानक एक जगह गदाई ठहर गया। उसका गाना बंद हो गया। आँखों से आँसुओं की धार बह चली। वह

स्तब्ध, बाह्य संज्ञा रहित हो गया। महिलाएँ घबड़ा गयीं। धूप के कारण ऐसा हुआ है सोचकर वे उसके मुँह पर पानी के छींटे देने लगीं। आँचल से उसे हवा करने लगीं। पर कुछ लाभ नहीं हुआ। महिलाओं में गाँव के जमींदार लाहाबाबू की विधवा बेटी प्रसन्नमयी भी थीं जो परम भक्त थीं। उन्हें गदाधर के दिव्य स्वरूप की झलक कुछ-कुछ मिल चुकी थी। प्रसन्नमयी बोल उठी—'अरे, यह मूर्च्छा नहीं है, गदाई पर विशालाक्षीमाता का आवेश हुआ है। तुम लोग माता से प्रार्थना करो, वही सब ठीक कर देगी।' वे भयभीत ग्रामीण स्त्रियाँ व्याकुल होकर माता से प्रार्थना करने लगीं—

(भजन-कहरवा)

मैया वरदे, यह विघ्न दूर अब कर दे ॥
निज शिशु की ओर नजर दे
सर पर करुणाकर धर दे
मैया विशालाक्षि तू, जगत्साक्षि तू
हम पर मत हो विरूपाक्षि तू ॥......वरदे...
हम अबला नारी, शरण तिहारी
हरो हमारी विपदा भारी ॥ ......वरदे......

माता विशालाक्षी ने प्रार्थना सुन ली। गदाई होश में आ गया और स्वाभाविक रूप से चलने-बोलने लगा। चंद्रामाता ने जब यह बात सुनी तो बड़ी चिंतत हुईं। उन्होंने गृहदेवता और विशालाक्षी माता को पूजा चढ़ायी और 'माँ, मेरे गदाई का कल्याण करो'—इस प्रकार प्रार्थना करने लगीं।

"चंद्रामाता, क्या तुम नहीं जानती कि गदाई स्वयं ही तो जगत् का कल्याण करने आया है।" अस्तु।

प्रसन्नमयी कभी कभी गदाधर से पूछ बैठती—'गदाई क्या तू भगवान है'?

(आसावरी—तीनताल)

गदाधरलाल, न जादू डाल। बता क्या तू नहीं गोपाल?
तुम्हें भगवान लिया पहचान, तुम्हारी चाल गयी मैं जान।
हमें छलने रचाके जाल, बने द्विजपाल तुम्हीं जगपाल ॥

उपनयन

गदाधर अब नौ वर्ष का हो चुका। ब्राह्मण कुमार होने के नाते अब उसका उपनयन या जनेऊ होना आवश्यक था। बड़े भाई रामकुमार और माता चंद्रादेवी गदाई के उपनयन की व्यवस्था करने लगे।

इधर धनी लुहारिन ने, जिसने गदाई के जन्म के समय दाई का काम किया था, गदाई से कह रखा था—'गदाई जनेऊ के समय पहली भिक्षा तू मुझी से ले, मुझे अपनी भिक्षामाता बनने का 'सौभाग्य' दे तो मैं अपने को धन्य मानूँ।' धनी माँ का सरल और अकृत्रिम प्रेम देख गदाई ने स्वीकृति दे दी थी।

प्रत्यक्ष उपनयन के समय गदाधर ने यह बात रामकुमार से कही। रामकुमार राजी नहीं हुए। कारण समाज और कुल की रीति के अनुसार गदाधर की भिक्षामाता बनने का अधिकार किसी ब्राह्मणी को ही मिल सकता था—लुहारिन को कदापि नहीं! किंतु सत्यनिष्ठ गदाधर सत्य के आगे सामाजिक रूढ़ियों को महत्व कैसे दे सकता था! वह अड़ बैठा। बोला—"यदि मैंने धनी माँ से प्रथम भिक्षा नहीं ली तो मैं झूठा साबित होऊँगा और जो झूठ बोलनेवाला होता है उसे स्वयं को ब्राह्मण कहलाने का अधिकार नहीं है। अतः मैं उपनयन नहीं कराऊँगा।"

ये उस नौ वर्ष के बालक के शब्द नहीं थे। यह सनातन सत्य की चुनौती थी जो सत्यस्वरूप गदाधर के मुख से ध्वनित हो रही थी। रामकुमार आदि पंडितों को इस सत्य के आगे झुकना पड़ा।

उपनयन यथाविधि सम्पन्न हुआ। बटु या ब्रह्मचारी नव द्विज ने धनी माँ के सामने झोली फैलायी।—"भवति भिक्षां देहि!"

धनी माँ गद्‌गद हो गयी। बालक भी आनंदमय था।

(भीमपलासी—दादरा)

आज मिली द्विज दीक्षा। धनी माँ दे भिक्षा।
दे भिक्षा शीघ्र मात, करूँ सत्य की रक्षा ॥

पाया नव जन्म आज, पहन ब्रह्मचारी-साज,
गोरा बना था छात्र मैं पाने विद्या-शिक्षा ॥
विद्या जो बंध हरे, परमपद प्रदान करे,
जो भर दे जीवन में, त्याग-विराम-तितिक्षा ॥

उपनयन के बाद देवपूजन का अधिकार पाकर बाल गदाई बड़ा आनंदित हुआ। वह भक्तिभाव से तन्मय होकर पूजा-अर्चा करने लगा। उसका हृदय और अधिक एकाग्र होने लगा।

तत्कर्म यन्न बंधाय सा विद्या या विमुक्तये ।
आयासायेतरं कर्म विद्या तत् शिल्पनैपुणम् ॥

पंडित सभा में

गदाधर के शुद्ध हृदय में यथार्थ विद्या-पराविद्या-का उन्मेष होने लगा—ज्ञान का विकास होने लगा। शास्त्रादि के सूक्ष्म मर्म को समझने की शक्ति उसमें जागृत हुई।

एक बार गाँव में धर्मदास लाहा के यहाँ किसी पर्व या उत्सव के उपलक्ष्य में कुछ विद्वान पंडित उपस्थित हुए। उनमें शास्त्रचर्चा होने लगी। किसी शास्त्रीय गूढ़ समस्या पर विचार होने लगा और उसकी ठीक ठीक मीमांसा न कर पा सभी पंडित आपस में झगड़ने लगे। पंडित उत्तेजित हो गये थे। कोलाहल सुनकर आसपास खेलते हुए बच्चे देखने लगे। उनका वाग्युद्ध देखकर वे तालियाँ पीट-पीटकर हँसने लगे। गदाई भी वहीं खेल रहा था। पर उसने समस्या को तुरन्त समझ लिया और एक पंडित से नम्रतापूर्वक बोला—"महाराज, क्या इस समस्या का हल इस प्रकार नहीं हो सकता ?', सुनते ही सब आश्चर्यचकित हो गये। यही तो उस समस्या का एकमात्र उत्तर था। पंडितगण उस आठ नौ वर्ष के बालक की अद्भुत प्रतिभा, बिलक्षण मेधा को देख धन्य-धन्य करने लगे। यह दैवी शक्ति थी, मानवी नहीं।

शिवरात्रि (तृतीय बार समाधि)

गृहदेवताओं की नित्यपूजा, ध्यान आदि के परिणाम स्वरूप गदाई की तन्मयता बढ़ती गयी और दिव्य अनुभूतियाँ होने लगीं। इसी समय उसे तीसरी बार भाव समाधि का अनुभव हुआ।

उस दिन शिवरात्रि थी। ग्रामवासियों ने उपवास रखा था। रात्रि में जागरण कर शिवपूजा करनी थी। इसलिए सीतानाथ पाईन के आँगन में शिवमहिमा पर ग्रामीण नाट्य (यात्रा) का आयोजन किया गया था। परंतु संध्यासमय खबर आयी कि शिवजी की भूमिका करनेवाला अभिनेता बीमार पड़ गया है। अब नाटक कैसे हो ? लोग उत्तेजित हो उठे। गदाई का मित्र गया—विष्णु जानता था कि इस भूमिका के लिए गदाई पूर्णरूपेण योग्य है। शिवजी के कई भजन और संवादादि उसे मुखाग्र हैं और अभिनय करने में तो वह निपुण है ही। किसी को साथ ले गयाविष्णु गदाई के यहाँ आया। गदाई उपवास कर शिवजी के ध्यान-चिंतन में बिभोर बैठा था। वह नाटक के लिए राजी नहीं था पर साथियों ने उसे समझाबुझाकर किसी प्रकार राजी किया और झटपट उसे शिव के वेश में सजा दिया। सिर पर जटा-जूट, कमर में व्याघ्र चर्म, हाथ में त्रिशूल और डमरू, शरीर पर भस्म। गदाई सचमुच ही शिव जैसा प्रतीत होने लगा।

अभिनय आरंभ हुआ। ढोल-सिंगा-शंख आदि बज उठे। गदाई ने रंगमंच पर प्रवेश किया। मानो साक्षात् महादेव ही अवतीर्ण हुए। दर्शकों ने आनंदसूचक ध्वनि की और सब स्तब्ध और उत्सुक होकर देखने लगे।

सूत्रधार ने स्तवन शुरू किया—

(यमन)

ॐ नमः शिवाय

ॐ वंदे देवमुमापतिं सुरगुरुं वंदे जगत्कारणं
वंदे पन्नगभूषणं मृगधरं वंदे पशूनां पतिम्
वंदे सूर्यशशांकवह्निनयनं वंदे मुकुंदप्रियं
वंदे भक्तजनाश्रयं च वरदं वंदे शिवं शंकरम् ॥

(यमन—सूलताल)

शंकर शिव पिनाकि गंगाधर। विषधर वामदेव ईश्वर डमरूकर ॥

भस्म अंग सोहे भुजंग भाल चंद्र। सिंगी फूँकत है भोला दिगंबर।

तिलक ललाट गले रुंडमाल त्रिनयन वरदाता गौरी संगत्रिशूलधर।

पशुपति विश्वनाथ मृत्युंजय जय महादेव नाम हर हर ।।

पर यह क्या ? शिवजी तो कुछ बोलते ही नहीं । अचल स्थिर चित्रवत् खड़े हैं। अभिनय कब आरंभ होगा ? लोग 'क्या हुआ, क्या हुआ' कर शोर मचाने लगे। नाटक के अधिकारी ने पास आकर देखा। गदाधर होश में नहीं था। आँखों से आँसुओं की धार बह चली थी। गदाई को उठाकर घर पहुँचा दिया गया। शिव के ध्यान में तल्लीन हो गदाधर बाह्य चेतना खो समाधिमग्न हो गया था। दूसरे दिन ही उसे होश आया।

अभिनय आदि

गदाई अब ग्यारह-बारह बरस का हो चुका था। लौकिक विद्यार्जन के प्रति उसकी उदासीनता बढ़ती गयी किन्तु यथार्थ विद्या—अध्यात्मविद्या – का उसमें अधिकाधिक विकास होता गया। इसी अध्यात्मविद्या का अभिनव प्रकाश उसके व्यक्तित्व में से प्रकट होने लगा—नाना प्रकार के गुणों के रूप में। ग्रामवासियों को रामायण—महाभारत पुराण आदि धर्मग्रंथ पढ़ सुनाना, भजनादि गाकर सुनाना, अभिनय कर दिखाना यह तो उसके नित्य कर्म थे । इनमें उसकी रुचि और कुशलता अत्यन्त बढ़ गयी। चित्रकला में वह निपुण हुआ। कुम्हारों के यहाँ जाकर हाथ में रंग की कूची लेकर वह दिखा देता किस प्रकार से देवीदेवताओं की मूर्त्तियाँ रँगी जाएँ जिससे वे सजीव और दिव्यभावपूर्ण प्रतीत हों।

गाँव की सीमा पर माणिकराजा की अमराई थी। वहाँ गदाई साथियों के साथ जाता और तन्मय होकर पौराणिक नाटकों का अभिनय करता। साथियों को गीत-अभिनयादि सिखाता। साथी भी उसमें इतना आनंद-मग्न हो जाते कि पाठशाला न जा उसे अमराई में बुला ले जाते—

(बाउलों की धुन—दादरा)

चल चल गदाई चल बन में, चल चल गदाई रे ।।
कोयलिया कूज उठी, अमराई गूँज उठी।
जाग उठा हृदय आज, सुख मन में ।।......
पवन बहे मंद मंद, महक रही है सुगंध ।
डोल रही डाल डाल, कुंजन में ।....
मोद मगन बन हम अब, नाचें गावें मिल सब।
अब न रहें हम जग के बंधन में ।।

अमराई में बालमित्रों के साथ नृत्य-गीत-अभिनय करते हुए गदाई तल्लीन हो जाता। सारा वातावरण ही बदल जाता। पथिकों में से जो कोई उस राह से गुजरता वह मंत्रमुग्ध हो उस स्वर्गीय दृश्य को देखता । उनका चित्त भक्तिभाव से ओतप्रोत हो जाता।

कभी कृष्णलीला का अभिनय होता। स्वयं को व्रज के ग्वाल बाल मानते हुए गदाधर और उसके साथी व्याकुल हो कृष्ण को पुकारते—

(कीर्तन की धुन—दादरा)

कान्हा आओ, कुंजन वन में आओ।
(सखा) दरसाओ, मधुर रूप दरसाओ ।।
तुम बिन हे प्राणसखा, व्याकुल व्रजबाल ।
सूना है मधुबन औ गौएँ बेहाल ।।
तुम्हीं सरसाओ ।।
तुम्हारे बिन कौन भरे मुरली में तान !
व्रजजन के जीवन में कौन भरे प्राण ।। काहे तरसाओ ।।

कभी रामलीला होती। गदाई के साथ बालकगण प्रभु रामचंद्र की सख्यभक्ति में विभोर हो गाने लगते—

(माँड —कहरवा)

उठो उठो सब बन के प्राणी, देखो रघुवर आवत हैं।
सुरनर तज निज कारज हित वानर को निकट बुलावत हैं ।।
धन्य धन्य कपिजन्म सफल, हिय में अति सुख उपजावत है।
त्रिभुवननायक आज स्वयं, वानर को मीत बनावत हैं ।।

इस प्रकार दिन कहाँ से बीत जाता कोई समझ ही नहीं पाता। पाठशाला से भाग जाने के कारण गुरुजी पहले-पहल नाराज थे पर जब उन्हें सारा हाल मालूम हुआ और गदाई का अनुपम अभिनय देखने का सुअवसर मिला तो वे भी प्रसन्न हुए।

गांव से विदाई

इस प्रकार दिन आनंद से बीत रहे थे। पर इस परिवर्त्तनशील जगत् का नियम ही है कि सुख के दिन अधिक

समय तक नहीं टिकते। ग्रामवासियों के भाग्य में यह स्वर्गीय सुख अधिक दिनों के लिए नहीं बदा था। अब गदाई की दिव्यलीला का बालपर्व समाप्त होने का समय निकट आ गया था। कालचक्र की गति को भला कौन रोक सकता है?

गदाधर बारह बरस का हुआ। बहन सर्वमंगला और मझले भाई रामेश्वर का विवाह हो गया। रामेश्वर अभी भी अर्थ उपार्जन करने में सफल नहीं हो पाये थे। घर की आर्थिक परिस्थिति बिगड़ने लगी। इसी बीच एक पुत्र को जन्म देकर रामकुमार जी की पत्नी धराधाम से चल बसीं। चंद्रादेवी पर इस वृद्ध अवस्था में पुनः संसार के कामकाज का और शिशु के पालन-पोषण का भार आ पड़ा। परिवार के निर्वाह के लिए ऋण का सहारा लेना पड़ा। ऋण द्रौपदी की तरह बढ़ता गया।

रामकुमारजी का मन धनाभाव और पत्नी वियोग के कारण चिंताग्रस्त और शोकमग्न था। अन्त में उन्होंने धनोपार्जन के लिए कलकत्ता जाने का निश्चय किया। तदनुसार उन्होंने कलकत्ता जा संस्कृत पाठशाला खोली और छात्रों का अध्यापन करने लगे। साथ ही कुछ यजमानों के घर नित्यपूजा का काम भी स्वीकारा। बीच-बीच में वे कामारपुकुर आते और परिवार का हाल देख जाते।

कुछ साल बीत गये। गदाधर अब सोलह साल के युवक बन चुके थे। पाठशाला जाना तो बंद हो ही गया था। वे माता चंद्रमणि को घर के कामकाज में सहायता करने और बाकी समय में भजन-कीर्तन, कथावाचन, अभिनय आदि में व्यस्त रहते। रामकुमार यह सब देखकर चिन्तित थे कि भविष्य में इसका क्या होगा। इधर कलकत्ते की पाठशाला में छात्रों की संख्या बढ़ जाने के कारण उनका काम बढ़ गया था। यजमानों के घरों की पूजा का काम वे सम्हाल नहीं पा रहे थे। अंत में उन्होंने गदाधर को अपने साथ कलकत्ता ले जाने का निर्णय किया। सोचा – गदाई पूजा का काम सम्हाल ले तो मुझे भी सहायता मिलेगी और गदाई मेरे पास रहने से कुछ पढ़-लिख सकेगा, जिससे उसका भला होगा।

पितृतुल्य रामकुमार के आदेश के सामने गदाधर ने सिर झुका लिया। अब उसके जीवन का बाल्यपर्व समाप्त हो एक नया पर्व आरम्भ होने जा रहा था।

शुभ मुहूर्त में गृहदेवता रघुवीर को प्रणाम कर तथा माता चंद्रामणि की चरणरज मस्तक में लगाकर गदाधर बड़े भैया के साथ निकल पड़े। यात्रा का आरंभ हुआ। यह यात्रा गदाधर के जीवन को एक नयी दिशा में ले जानेवाली थी।

कामारपुकुर का आनन्द का मेला टूट गया। सुख का सपना बीत गया। व्यथित हृदय से ग्रामवासी रो पड़े—

(भैरवी तीनताल)

गदाधर चले हमें क्यों छोड़।
संग रहे कुछ बरस हमारे,
नित पाये हम दरस तुम्हारे।
प्रेम डोर से बाँध हमें क्यों, दीन्हा नाता तोड़॥
मन हर लिया रूप दरसाके,
भुला दिया दुख,चित हरसाके।
नेह लगाकर आज न जाने क्यों मुख लीन्हा मोड़॥
जो हो, विद्यार्जन को जाओ,
ज्ञानी बनो हमें न भुलाओ।
सुखी रहो, हो भला तुम्हारा, जीओ बरस करोड़॥

भोलेभाले गाँव के लोगों, तुम कुछ नहीं जानते। क्या तुम्हारा प्यारा गदाधर तुम्हें कभी छोड़ सकता है? वह तो तुम्हारा ही है, तुम्हारे ही लिए तो वह आया है। वह गाँव छोड़कर भले ही चला जाए, पर तुम्हारा प्रेमपूर्ण हृदय छोड़कर वह कभी नहीं जा सकता।

शांत होओ, दुनेया से आँख मूँद लो और देखो अपने हृदय के अन्दर। देखोगे, तुम्हारा प्यारा गदाधरलाल वहाँ प्रसन्न हो विराज रहा है।

"बोलो बाल गदाधरलाल की जय!"

(भैरवी दादरा)

सर्वजीव-पापनाशकारणं भवेश्वरं स्वीकृतं च गर्भवास देहधारणमीदृशम्।
यापितं स्वलीलया च येन दिव्यजीवनं। नमामि देवदेव-रामकृष्णमीश्वरम्॥

श्रीरामकृष्ण भावधारा

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

श्रीरामकृष्ण भावधारा की एकमात्र मासिक पत्रिका आपके हाथों में है। यह वर्षों से प्रतिमाह इस भाव-धारा के कुछ अमृतकण आप तक पहुँचाकर अपने को धन्य मानती रही है। अब तक आप इस महान भाव-धारा से न्यूनाधिक मात्रा में परिचित हो ही गये हैं, फिर भी पूछता हूँ, यह भावधारा क्या है? शब्दों, वाक्यों द्वारा गठित, लेखों, कथानकों एवं कविताओं के माध्यम से जो विचार आपके मस्तिष्क तक पहुँचते हैं, उन्हें भावधारा क्यों कहा गया? आइए, आज इसी पर विचार करें।

'भाव' का अर्थ

इस 'भाव' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है। स्वयं रामकृष्ण के लिए ही 'भाव राज्य के सम्राट', 'अनन्त भावमय', भावमुख में प्रतिष्ठित' आदि विशेषणों का उपयोग उनके जीवनीकार करते हैं। भक्तिमार्ग की साधना में दास्य-भाव, वात्सल्य-भाव, मधुर-भाव आदि शब्दों का प्रयोग प्रायः किया जाता है। सामान्य जनजीवन में भी किसी व्यक्ति की मनः स्थिति का वर्णन करने के लिए कातरभाव, विवर्णभाव आदि शब्द प्रयुक्त होते हैं। अगर शब्दकोष उठाकर देखें तो भाव शब्द के, अनुगत धर्म, स्वभाव Nature, Temperament, विचार, भावना, मत, कहने का आशय, आदि अर्थ दिये गये हैं। भावधारा शब्द में प्रयुक्त 'भाव' का इन सभी से सम्बन्ध है। भाव का अर्थ मन में उठ रहा विचार भी है, लेकिन उससे कुछ अधिक भी है। इसी तरह भाव का अर्थ भावना भी है, लेकिन इससे अधिक भी है। एक ही विचार बार-बार मन में उठने पर धीरे-धीरे अचेतन मन में जाकर घनीभूत हो जाता है। अगर उस विचार विशेष को कार्यरूप में परिणत किया जाय और उस कार्य की बार-बार आवृत्ति की जाय तो वह आदत एवं अन्ततः स्वभाव बन जाता है। कोई भावना अथवा Emotion विशेष जब तीव्र एवं दीर्घकाल तक स्थायी रखा जाता है तो वह महाभाव का रूप ले लेता है। यह बात भक्तिमार्ग के साधकों में देखी जाती है। स्वभाव के और अधिक प्रगाढ़ होने पर वह मानव के व्यवहार, एवं अंग-प्रत्यंग के गठन, उसके चालचलन, हाव-भाव एवं चेहरे की रेखाओं तक को परिवर्तन कर सकता है। उसी तरह भावना, महाभाव में परिणत होकर अनेक शारीरिक विकारों को पैदा कर सकती है। श्रीरामकृष्ण अपने निकट आनेवाले भक्तों के शरीर की बनावट, हाथ का भार आदि देखकर उनके चरित्र का, उनके स्वभाव एवं अचेतन मन में छिपे विभिन्न भावों का अंदाज लगाया करते थे।

इस तरह, एक सामान्य से विचार अथवा क्षणिक भावना से प्रारम्भ कर किस प्रकार एक भाव व्यक्ति के चरित्र एवं व्यक्तित्व में गहरा होता हुआ उसका स्वभाव बनता है, तथा उसके शारीरिक गठन एवं क्रियाकलाप को प्रभावित करता है यह हमने देखा। ठीक इसी प्रकार भाव, मानव ईकाइयों एवं समाज को भी प्रभावित करते हैं। विचार, सर्वप्रथम लिखित अथवा उक्त शब्दों के माध्यम से समाज में प्रचारित होते हैं। पुनः पुनः प्रचार से समाज धीरे-धीरे उन्हें स्वीकार करता है तथा वे सामाजिक ढांचे को परिवर्तित करने लगते हैं। दीर्घकाल के इस तरह के प्रभाव के फलस्वरूप ये भाव समाज के रीति-रिवाज, परम्परा एवं संस्कृति के रूप में घनीभूत हो जाते हैं। भारत एक धर्म प्रधान देश है, यहाँ

धार्मिक भाव सदियों से प्रसार, प्रचार एवं अभ्यास के द्वारा घनीभूत हो गया है, इसकी संस्कृति का अंग बन गया है, यह कथन उपर्युक्त विश्लेषण के संदर्भ में अधिक स्पष्ट हो जायेगा। इससे यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि किसी भी भाव को व्यक्ति अथवा समाज में घनीभूत होने में समय लगता है। शब्दों, साहित्य एवं ध्वनियों में व्यक्त भाव, व्यक्त होते हुए भी कम प्रभावशाली रहता है। लेकिन उसका प्रसार एवं प्रचार इसी रूप में संभव है। घनीभूत भाव अधिक गहरा एवं शक्तिशाली होते हुए भी प्रसारित नहीं हो सकता।

भावधारा

गूढ़ आध्यात्मिक सत्यों को समझाने के लिए प्रायः रूपकों एवं दृष्टान्तों की सहायता ली जाती है। श्रीराम कृष्ण इस कला में अत्यन्त निपुण थे। 'कृपा वायु बह रही है, पाल तान दो' उनके इस कथन में कृपा की तुलना वायु से की गयी है। मुक्त, बद्ध, मुमुक्षु जीवों की अवस्था समझाने के लिए वे जाल में फँसी, कूद कर निकल गयी, तथा निकलने के लिए प्रयत्नशील मछलियों की उपमा देते थे। धर्मशास्त्रों में इसी प्रकार के रूपकों में 'धारा' भी एक प्रचलित रूपक है। यदि भाव को जल की उपमा दी जाये तो भावधारा की कल्पना एवं दृष्टान्त इतने उपयुक्त एवं सजीव हो उठते हैं कि उनके माध्यम से किसी भाव एवं विचार विशेष की उत्पत्ति, प्रचार एवं प्रभाव को समझना अत्यन्त सरल हो जाता है। अब हम इस रूपक की सहायता से रामकृष्ण भाव-धारा को समझने का प्रयत्न करेंगे।

श्री रामकृष्ण भावधारा

सामान्य भक्तों को छोड़ अधिकांश लोग श्रीरामकृष्ण को एक ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं लेकिन स्वामी विवेकानन्द जैसे मनीषी उन्हें अत्यन्त आध्यात्मिक भावों के मूर्त रूप, मानते हैं। रोमांरोलाँ उन्हें ३० करोड़ लोगों के दो हजार वर्षों के आध्यात्मिक जीवन के घनीभूत विग्रह मानते हैं। इसका क्या अर्थ है? श्रीरामकृष्ण में कांचन त्याग का भाव इतना घनीभूत हो गया था कि भूल से भी धातु स्पर्श करने पर उनको असह्य पीड़ा होती थी। सत्य में वे ऐसे प्रतिष्ठित थे कि अनजाने में भी उनके अंग-प्रत्यंग सत्य का उल्लंघन नहीं कर सकते थे। अपरिग्रह का उनके मन एवं देह पर इतना गहरा प्रभाव था कि वे मुखशुद्धि का मुट्ठीभर मसाला भी पास नहीं रख सकते थे। ईश्वर दर्शन की उनकी ऐसी व्याकुलता थी कि वे उनके अदर्शन में प्राणान्त करने को तैयार थे। सत्य, अस्तेय, त्याग, वैराग्य, व्याकुलता, सर्वधर्म सहिष्णुता, आदि भाव मानो एक साथ देह धारण कर श्रीरामकृष्ण में प्रकट हो गये थे। ये आदर्श हम जैसे सामान्य साधकों में वाष्प की तरह अस्थायी अथवा जल की तरह तरल रहते हैं, लेकिन श्रीरामकृष्ण में वे उस बर्फ की तरह घने एवं स्थायी हो गये थे—जो न तो हवा से उड़ सकती है, और न ही बहकर नष्ट हो सकती है।

श्री रामकृष्ण भावधारा का उद्गम

श्रीरामकृष्ण हिमालय की तरह वह विशाल हिमखंड हैं, जिसके पिघलने पर, गंगा, यमुना जैसी महान नदियों का उद्गम होता है। प्रसिद्ध गीतकार स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने श्रीरामकृष्ण की तुलना 'करुणा गंगा' से की है। "वंग हृदय गोमुखी होइते करुणा गंगा बहिया जाय" गंगा के उद्गम के विषय में विभिन्न मान्यताएँ प्रचलित हैं। पौराणिक मान्यता के अनुसार विष्णुपाद से उद्भूत गंगा को भगवान शिव अपने सिर पर धारण करते हैं, तथा भगीरथ उसे मार्ग दिखाकर पृथ्वी से सागर तक ले जाते हैं। श्रीरामकृष्ण मानो भगवान शंकर हैं तथा स्वामी विवेकानन्द भगीरथ। साधना की चरमावस्था में श्रीरामकृष्ण निर्विकल्प समाधि में सर्वव्यापी परमात्मा; विष्णु के साथ, उस सत्ता के साथ एकाकार हो गये थे जिससे विश्व के समस्त भावों की उत्पत्ति होती है। उसके बाद माँ जगदम्बा का आदेश हुआ—"भावमुख में रह।"। जिस प्रकार वर्षा का जल छत

पर गिरकर शेर की आकृति के नाले से गिरता है, और बच्चे समझते हैं कि जल शेर के मुँह से आ रहा है, उसी प्रकार श्रीरामकृष्ण माँ जगदम्बा के आदेश से मानो परमात्मा के मुख बन गये। उनके द्वारा नि:सृत भाव परमात्म सत्ता से उद्भूत भाव ही है।

गंगा के उद्गम की दूसरी मान्यता है कि वह गोमुख नामक स्रोत से पैदा होती है, जो जमीन से फूटता है। पृथ्वी के नीचे फल्गु की तरह अदृश्य रूप से प्रवाहित हो रहा जल पर्वतों पर स्रोतों के रूप में निकल आता है। भारतीय समाज में अदृश्य, अव्यक्त रूप से प्रवाहित आध्यात्मिक भावधारा ही मानो श्रीरामकृष्ण रूपी गोमुख से प्रकट हुई है।

तीसरी मान्यता है कि गंगा मानसरोवर से उत्पन्न होती है। आस-पास पिघलकर जल एक स्थान में एकत्रित होता है और उससे एक धारा प्रवाहित होती है। धर्मनिष्ठ पिता खुदीराम एवं पवित्रता की प्रतिमूर्ति माँ चन्द्रामणि देवी का यह परिवार ही वह मानसरोवर है जिससे श्रीरामकृष्ण रूपी गंगा का आविर्भाव होता है। इसके बाद गंगा के प्रवाह में आस-पास से अन्य धाराओं का मिलन होता है। श्रीरामकृष्ण में भी इस्लाम एवं ईसाई धर्म की साधना के समय नयी भावधाराओं का मिलन हुआ था। श्रीरामकृष्ण तत्कालीन ब्रह्म समाज के सदस्यों के संपर्क में भी आये थे तथा कर्त्ताभजा आदि संप्रदायों के साधक भी उनके पास आते थे। ऐसा नहीं कि केवल ये लोग ही श्रीरामकृष्ण से सीखते थे। उनका कथन है "जतो दिन बाँची, ततो दिन सीखी", अर्थात् "यावज्जीवन तावत ज्ञानार्जन" होता है।

इस तरह श्रीरामकृष्ण रूपी उद्गम से प्रवाहित होनेवाली इस भावधारा के चार आदि कारण माने जा सकते है : (१) परमात्मा की अनन्त भावराशि (२) भारतीय संस्कृति (३) कामारपुकुर ग्राम के धार्मिक परिवार के संस्कार एवं (४) भारतेतर धर्म एवं आधुनिक भावधाराएँ।

श्री रामकृष्ण भावधारा का प्रवाह

पर्वतों से उत्पन्न होनेवाली सभी नदियों का प्रभाव सर्वप्रथम तो पर्वतीय प्रदेश से होता है। तब वह खरस्रोता गहरी एवं सुरम्य होती है। मैदान पर आने पर वह फैल जाती है, तथा उनके प्रवाह में वह गहराई नहीं रहती जो पर्वत प्रदेश में रहती है। जल भी जो पहले निर्मल था, अधिक मैला हो जाता है। ठीक यही बात भावधारा के साथ भी होती है। भावधारा शिष्य-प्रशिष्यों के भीतर भाव संचार के माध्यम से प्रवाहित होती है। इन अन्तरंग शिष्यों का जीवन-चरित्र आध्यात्मिक सौंदर्य एवं सम्पदा से पूर्ण अत्यन्त पवित्र एवं आकर्षक होता है तथा साधना की कठोरता रूपी वेग से युक्त भी होता हैं। पर्वतीय स्थलों की तरह ये सामान्य लोगों को दुरगम्य होते हैं। यही नहीं, पर्वत-प्रदेश की घाटियों, चट्टानों और जंगलों को तरह ये शिष्य अपने चरित्र की विशेषता के द्वारा इस भावधारा को विविधता एवं सौंदर्य प्रदान करते हैं। स्वामी विवेकानन्द में यह धारा एक विशाल चौड़ प्रपात की तरह हो गयी है, तो माँ सारदा में इसी भावधारा को हम हिमालय के ऊँचे स्थान में पहाड़ों से घिरी एक शान्त झील के सामान पाते हैं।

समाज में अधिकाधिक प्रसारित होने पर, तथा शिष्य-परम्परा की तीसरी एवं चौथी पीढ़ी तक पहुँचने तक इस भावधारा का वेग कम हो जाता है। लेकिन यह अधिक आसानी से लोकगम्य भी हो जाती है, तथा अधिकाधिक लोगों का उपकार भी इससे होता है। उत्तर प्रदेश के विशाल मैदानों से बह रही विशाल गंगा की तरह इस भावधारा से आज हजारों-लाखों लोग परिचित हो गये हैं एवं इसमें स्नान कर शान्ति प्राप्त कर रहे हैं।

और आगे जाने तथा अधिक चौड़ी होने पर बड़ी नदियाँ शाखाओं में विभक्त होती दिखाई देती हैं। इसी प्रकार यह भावधारा भी पाँच प्रमुख शाखाओं में विभक्त है। (१) सर्वत्यागी संन्यासियों का रामकृष्ण संघ (२) सर्वत्यागी संन्यासिनियों का सारदा मिशन (३)

रामकृष्ण एवं विवेकानन्द के नाम से चल रहे ऐसे आश्रम, सेवा संस्थाएँ एव समितियाँ, जो रामकृष्ण मिशन की शाखाएँ न होते हुए भी इसी भावधारा पर आधारित हैं (४) संघ के दीक्षित गृहस्थ एवं गैर संन्यासी भक्तों का बृहत् समुदाय और(५) ऐसे असंख्य लोग जो उपर्युक्त शाखाओं से सीधे संबद्ध न होते हुए भी भावधारा से प्रभावित हैं तथा उससे सहानुभूति रखते हैं।

भावधारा के उपयोग की विधि

उद्गम एवं विस्तार की प्रक्रिया की जानकारी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जिज्ञासु पाठक उस जल में अधिक रुचि रखता है, जो इस भावधारा में प्रवाहित होता है। जिस प्रकार एक नदी या सरिता का उपयोग विभिन्न प्रकार से किया जा सकता है, उसी प्रकार भावधारा भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की आवश्यकता एवं रुचि-भेद के अनुसार अलग-अलग प्रकार से उपयोगी हो सकती है। भावधारा के उपयोग की विभिन्न विधियों का दिग्दर्शन दो बंगाली भजनों में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है, भावानुवाद यहाँ देना उचित होगा।

(१)

"बंग-हृदय-गोमुख से बहे करुणा गंगा।
आओ दौड़े आओ, जो शुष्क कण्ठ ओ' प्यासा॥
व्यर्थ-वासना अनल-दहन और सहें कितने जन्ममरण,
मृगतृष्णा का पीछा करते, श्रम स्वेद से सिक्त तन,
शीतल जल में एक डुबकी, शान्त करे सब ज्वाला॥१॥
जाह्नवी-तीर पर तृष्णातुर, अंध वही जो खोजे सरोवर,
रामकृष्ण-पावनी गंगा चली ब्रह्मानन्द सागर।
आओ शीघ्र धरो चरण, अन्त व्यर्थ आवागमन होगा॥२॥

(२)

प्रेम में पिघल कर जल हो जाओ।
कड़ा मिलता नहीं, तरल हो मिलकर एक हो जाओ॥
सदा नम्र हो नदी की तरह चले जाओ।
'जय जगदीश' बोल, कल-कल सतत बहे जाओ॥
विश्वास रूपी तरंग उठा मोह बाँध चूर्ण करो।
इस ओर-उस ओर देखे बिना नाचते-गाते चले जाओ।
इस जल में जो स्नान करे, मृत्यु जरा नहीं रहे,
पीने से प्यास मिटे, मन का मैल जाय घुले।
यदि तैरना भूलकर कूद सको,
तो पूरी तरह बह जाओ,
बहते-बहते अमृत सागर को पहुँच जाओ॥

कुछ लोग केवल सैर करने आकर नदी के सुरम्य दृश्य को देखकर चले जाते हैं। कुछ स्नान करते, जल पीते तथा भरकर साथ ले जाते हैं। अन्य कुछ नहर काट-काटकर उससे अपने खेतों को सींचते हैं। गंगा जैसी पावनी देवी के किनारे कुछ लोग घर बना कर वहीं बस जाते हैं।

उपर्युक्त गीत में नदी के प्रवाह में डूबने, गलने अथवा बहकर सागर तक पहुँचने का उल्लेख किया गया है। सामान्य सरिता के साथ ये दुर्घटनाएँ हो सकती हैं, लेकिन भावधारा के संदर्भ में इनका बड़ा भावपूर्ण तात्विक अर्थ है।

श्रीरामकृष्ण की जीवनी तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द साहित्य का उत्सुकतावश पाठ करने वाले, तथा इससे क्षणिक आनन्द का आस्वादन करने वाले मानो वे लोग हैं जो नदी का सैर करने और देखने भर आते हैं। कुछ ऐसे अभागे भी होते हैं जो भागीरथी गंगा जैसी नदी को देखने के बदले उसके घाटों पर फैली गन्दगी को ही देखते एवं उसकी फोटो खींचते हैं—दूसरों को दिखाने के लिए। श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द के उपदेशों में त्रुटि देखकर उनकी निन्दा करने वालों की यही उपमा है। लेकिन बहुत से लोग इन महापुरुषों की जीवनी एवं उपदेशों का नित्य पाठ रूपी स्नान करके अपनी संसार ज्वाला को शान्त एवं मन के मैल को दूर करते हैं। सांसारिक चिन्ता, वासनाओं की उष्णता आदि से छुटकारा पाने के लिए व्यक्ति विषयभोग रूपी मरीचिका के जल से तृप्त होने के लिए सप्राण परिश्रम करता है। लेकिन तृप्ति के बदले अशान्ति एवं क्लान्ति ही प्राप्त करता है। वासना रूपी अग्नि विषय रूपी घी प्राप्त

कर और अधिक प्रज्वलित ही होती है। तब श्रीराम-कृष्ण उपदेशामृत की धारा का पानकर, उससे निर्मित वातावरण में अवगाहन कर वह अपने श्रम को लाधव कर सकता है। गंगा में अपनी इच्छा से नहायें, अथवा फिसलकर या किसी के धक्का दे देने से गिर पड़ें—परिणाम तो एक ही होगा। ठीक इसी तरह जानबूझकर रामकृष्ण विवेकानन्द भावधारा का संपर्क हो, या अनायास अथवा किसी के द्वारा कराया जाये, परिणाम तो एक ही होगा। (श्रीरामकृष्ण वचनामृत के लिपिक मास्टर महाशय स्वयं भी एक ऐसे ही व्यक्ति थे जो अचानक श्रीरामकृष्ण का संस्पर्श पाकर धन्य हो गये थे। ऐसे अनेक दृष्टांत हैं जहाँ व्यक्ति अनायास ही श्रीरामकृष्ण विवेकानन्द साहित्य, या रामकृष्ण संघ के संन्यासी अथवा साधु के अचानक संस्पर्श में आ इस भावधारा का परिचय पाकर धन्य हो गया है।) ऐसी शान्ति एवं तृप्तिदायी भावधारा के रहते जो वैषयिक अथवा राजनीति परक साहित्य पढ़ते हैं मानो उन अन्धों के समान हैं जो गंगा के किनारे रहते हुए भी उसे न देख सकने के कारण सरोवर के रुके हुए गतिहीन बदबूदार जल को खोजते हैं। कुछ लोग इस भावधारा से सम्बन्धित साहित्य, चित्र आदि को अपने घर में ले जाकर उसी तरह रखते हैं जैसे लोग गंगाजल को घड़ों में भरकर रखते हैं जिससे चित्त की अशान्ति एवं दुःख-कष्ट के समय उनका उपयोग कर तत्काल शान्ति पा सकें।

भावधारा के स्थायी उपयोग की विधि

विषय सेवन, रागद्वेषादि युक्त संस्कारों के उदय अथवा कुसंग से प्राप्त मनोमल को दूर करने के लिए बार-बार इस भावधारामृत के पान एवं इसमें स्नान की आवश्यकता है, लेकिन इस धारा के उपयोग की विधियाँ ऐसी हैं, जिनके द्वारा स्थायी लाभ हो सकता है। यदि नहर काट कर इसके जल को अपने खेत तक लाया जा सके तो उससे नित्य स्नानपान का अभाव तो मिटेगा ही, धनधान्य की भी वृद्धि होगी। नहर काटकर धरती से सोना उगाने का मार्ग पुरुषार्थ का है। जो किसान भूख-प्यास स्नान, निद्रा, प्रियजनों के निमंत्रण आदि सभी की उपेक्षाकर निरंतर कठोर परिश्रम से नहर बनाने में लगता है, वही इसमें सफल हो सकता है। थोड़ी सी बाधा से काम रोकने या स्थगित करने वाला किसान कभी सफल नहीं हो सकता। इसी तरह श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का दीर्घकाल तक निरंतर एवं लगन के साथ अभ्यास करने से, उनको अपने जीवन में आत्मसात करने के प्रयत्न से साधक अपने मनरूपी खेत में ऐसा सोना उगा सकता है जो कालुष्य से कभी मलिन नहीं होता। दो किसानों का उपर्युक्त दृष्टांत श्रीरामकृष्ण का ही है। वे यह भी कहते थे कि यदि खेत की मेड़ में छेद हो तो उसमें से पानी बह सकता है। वैराग्य द्वारा विषयासक्ति रूपी छिद्रों को बंद करना चाहिए।

दूसरा मार्ग है शरणागति का। यह मानो तैरना भूलकर अथवा हाथ पैर मारने के बाद थक कर नदी में डूबना या बहना है। साधारण नदी में ऐसा होना मृत्यु का कारण होता है, लेकिन यह भावधारा तो अमृत की है, इसमें डूबना याने स्वयं के अहंकार का नाश होना है जो अमरत्व दिलाता है। अगर हममें अहंकार रूपी कड़ी रेत न हो तो हम नमक के पुतले की तरह पूरी तरह गल कर श्रीरामकृष्ण की चेतना के साथ एक होकर धन्य हो जायेंगे। हमारा अस्तित्व मानो जल के एक विन्दु के अस्तित्व के समान है। हम अपने इस छोटे से व्यक्तित्व से चिपके रहना चाहते हैं। बूंद, सागर से मिलने से घबराती है। वह यह नहीं समझ पाती कि सागर से मिलकर वह सागर हो जायेगी—सागर के अस्तित्व को प्राप्त कर लेगी। रामकृष्ण भावधारा में डूब जाने की यही धन्यता है। यदि हम मन के अहंकार को बनाये रखकर इस भावधारा में गहरी डुबकी लगा सकें तो हमें अमूल्य रत्न प्राप्त होंगे जिनका वितरण हम सभी को कर सकते हैं।

यदि हम गल न पायें, तो प्रवाह पतित-पत्र की तरह यह धारा जहाँ ले जाये बहते चले जायें। अनिश्चितता, नियमहीनता, यहाँ तक कि लक्ष्यहीनता का पथ

है, शरणागति का पथ है, और गिरीशचंद्र घोष इसके सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं। श्रीरामकृष्ण को 'बकलमा' देने के बाद उनके जीवन में अनेक कष्ट आये लेकिन उन्हें इन सबको धैर्यपूर्वक सहना पड़ा था। लेकिन अन्त में वे ब्रह्मानन्द रूपी सागर तक पहुँच कर धन्य हुए थे।

भावरूपी जल

पाठक उन भावों से परिचित ही हैं जो जल की तरह इस धारा में प्रवाहित हो रहे हैं। संक्षेप में उनका उल्लेख मात्र करके इस प्रवन्ध का हम उपसंहार करेंगे। वे भाव हैं ईश्वर ही नामरूप से परे एक मात्र नित्य सत्य है जिसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करना जीवन का उद्देश्य है। तीव्र व्याकुलता एवं काम-कांचन-त्याग के द्वारा उसका दर्शन किया जा सकता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक उपाय हैं, जो सभी सत्य हैं। संसार के सभी धर्म अपने सिद्धान्तों में ही नहीं, वल्कि व्यावहारिक पक्ष में भी सत्य हैं। धर्म अनुभूति का विषय है जिसे दैनन्दिन जीवन में जिया जा सकता है। शिव भाव से आर्त पीड़ित जीवों की सेवा करना युग धर्म है। नये समाज की रचना प्रेम एवं परस्पर सहानुभूति के माध्यम से ही संभव है, जिसमें नारी-जाति का पुरुषों के बराबर ही योगदान है। नारी में मातृत्व का विकास एवं नारी का माता के रूप में सम्मान इस भावधारा का एक वैशिष्ट्य है।

उपसंहार

श्रीरामकृष्ण से उद्भूत होते हुए भी स्वामी विवेकानन्द एवं माँ सारदा का इसके विकास एवं विस्तार में महत् योगदान है। अतः इसे रामकृष्ण-सारदा-विवेकानन्द भावधारा कहना अधिक उपयुक्त होगा। उपर्युक्त भाव जब तक पुस्तकों के पन्नों, टेपों अथवा वीडियो फिल्म की रीलों में वन्द रहते हैं तबतक वे निर्जीव ही रहते हैं। तब तक उन्हें 'भाव' की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। जब वे मनुष्यों के मन के सम्पर्क में आकर विचारों एवं भावनाओं में परिणत होते हैं तभी वे भाव कहला सकते हैं। रेडियो और टेलीवीजन के माध्यम से देश-विदेशों में दूर-दूर तक इनका प्रसारण मानो वाष्प का हवा के साथ फैलने के समान है। लेकिन इसे ओस की बूँदों अथवा वर्षा के रूप में धरती पर आना होगा। मानव मन के पुष्पों को खिलाना एवं खेती को उजागर करना होगा, तभी इसकी सार्थकता है।

समग्र मानवजाति के सर्वांगीण विकास, कल्याण एवं शान्ति रूपी सागर के लक्ष्य की ओर बह रही यह धारा सभी के पास उनके देवत्व एवं विश्व की एकात्मा का सन्देश पहुँचा रही है। धरती में गहरा पैठता हुआ इसका जल अज्ञात रूप से असंख्य प्राणियों को शान्ति व अमृत का सन्देश दे रहा है। धन्य हैं वे जो इन भावों को जानते हैं; जो इन्हें जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं, एवं त्रिधन्य हैं वे जो स्वयं आस्वादन एवं आत्मसात् कर दूसरों को वितरित करने की चेष्टा करते हैं। आइए, हम इसमें नयी नहरें खोदें जिससे यह संसार के कोने-कोने में पहुँच सके।

श्रीरामकृष्णदेव के भीतर सब भाव हैं,—सब धर्मों और सब सम्प्रदायों के आदमी उनके पास शान्ति और आनन्द पाते हैं। उनका खास भाव क्या है, वे कितने गहरे हैं, यह भला कौन समझ सकता है ? ······उनके श्रीमुख से मैंने सुना है, सूत का व्यवसाय बिना किये, कौन सूत ४० नम्बर का है और कौन ४१ नम्बर का, यह समझ में नहीं आता। चित्रकार हुए बिना चित्रकार की कुशलता समझ में नहीं आती। महापुरुषों का भाव गम्भीर होता है। ईशु की तरह बिना हुए, ईशु के सारे भाव समझ में नहीं आते। श्रीरामकृष्णदेव का यह गम्भीर भाव, बहुत सम्भव है, वही है जो ईशु ने कहा था—'अपने स्वर्गस्थ पिता की तरह पवित्र होओ।'

—श्री 'म' (रामकृष्ण वचनामृत, तृतीय भाग, पृ० ३८४)

प्रेम का धर्म

—श्री अमजद अली खाँ

[बंगला पत्रिका 'देश' के २५ अप्रैल १९८७ अंक में श्री सुमन चट्टोपाध्याय द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त लेख का 'देश' की अनुमति से किया गया हिन्दी रूपान्तर। रूपान्तरकार हैं— डॉ० केदारनाथ लाभ।]

प्रत्येक मनुष्य के लिए ही धर्म नितान्त व्यक्तिगत विषय है। मेरे अपने लिए भी यही बात है। एवं इसी कारण धर्म को लेकर खुले रूप से विवेचन करना मुझे पसन्द नहीं। मुझे लगता है, मेरा वक्तव्य सब को प्रसन्न नहीं भी कर सकता है। किन्तु किसी को भी अप्रसन्न करना मेरा लक्ष्य नहीं है। इसी से आज तक धर्म के विषय में प्रकट रूप से मैंने कुछ नहीं कहा। फिर भी साधारण रूप से कहीं-कहीं अपनी जीवन-यात्रा के सम्बन्ध में मैंने विवेचन किया है और उस विवेचन में अनिवार्य रूप से धर्म की बात भी आ गयी है।

पहले ही अपने पिताजी की बात कहूँ। मेरे पिता उस्ताद हाफिज अली खाँ साहब थे। पिताजी उस्ताद अल्लाउद्दीन खाँ एवं अब्दुल करीम खाँ के समसामयिक थे। अर्थात् पिताजी से मेरी उम्र में बड़ा व्यापक अन्तराल था इतना अधिक अन्तराल कि वे मेरे पिताजी न होकर अनायास ही मेरे दादा जैसे लगते थे। मैं अपने माँ-बाप की सबसे छोटी सन्तान था। अतएव यह कहने की आवश्तकता नहीं कि मेरे सौभाग्य से उनलोगों का स्नेह और प्रेम भी कुछ अधिक मात्रा में ही मुझे उपलब्ध हुए थे। किन्तु, यह बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात यह है कि मेरे पिताजी मात्र एक यशस्वी कलाकार ही नहीं थे, उनकी भाँति महानुभाव, अनुभूतिशील एवं निश्चय ही धार्मिक मनुष्य मैंने बहुत कम देखे हैं। पिताजी नियमत: प्रतिदिन पाँच बार नमाज पढ़ते थे। प्रधानत: उनके कारण ही हमलोगों के घर का परिवेश काफी खुला हुआ, संस्कार-मुक्त था। पिता से उत्तराधिकार के रूप में जिस प्रकार मैंने संगीत विद्या पायी है, ठीक उसी प्रकार एक खुला मन भी पाया है। निश्चय ही, उसके बाद मैं स्वयं रुका नहीं रहा। कह सकता हूँ कि मैंने अपनी विचार-बुद्धि का भी प्रयोग किया है। जो कार्य मुझे करने योग्य प्रतीत होता है, मैं बिल्कुल वही कार्य करता हूँ। किसी धर्म-गुरु को प्रसन्न करने का दायित्व मेरा नहीं है। फिर झूठ-मूठ उन्हें थपेड़ देना भी मेरा अभिप्रेत नहीं। पहले ही कह चुका हूँ, इसलिए धर्म के विषय में खुलकर विवेचन करना मैं पसंद नहीं करता।

मैं कट्टरता को नापसन्द करता हूँ और धर्मान्ध सनातनपंथियों को घृणा करता हूँ। दुर्भाग्यवश आज इस देश में राजनीति सब का नियन्ता हो गयी है। मुझे लगता है कि कितने उद्देश्य प्रणोदित भावों से ही धर्म को भी राजनीति के साथ मिला दिया गया है। आज राजनीति से अलग कर के धर्म को देखने का कोई उपाय नहीं है। विशेषकर चुनाव के समय धर्म को लेकर यह राजनैतिक प्रतियोगिता सर्वत्र प्रकट हो उठती है। प्रत्येक धार्मिक नेता का एकमात्र लक्ष्य होता है, केवल जिस-तिस प्रकार से अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाते जाना। सचमुच, यह बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण है। और मुझे नहीं लगता है कि इस प्रयास के साथ धर्म का कोई भी सम्बन्ध है।

मैं जानता हूँ कि विभिन्न धर्मों के जो प्रवक्ता थे उन सब ने अपने अपने धर्म के क्षेत्र में स्पष्ट रूप से कई आचरण विधियों का भी निर्माण किया था। उसके पीछे सम्भवत: दो उद्देश्य थे। एक, नये धर्म को नयी दिशा देना और दो, धर्म की स्वतंत्रता की रक्षा करना, जिससे दूसरे धर्मों के साथ संघर्ष न हो। इसीलिए, कोई धर्म

कहता है कि सिर के बाल मत कटाओ और कोई धर्म कहता है कि पूरा सिर मुण्डन करा लो। यह आचरण विधि मेरे लिए धर्म का व्याकरण है। किन्तु दुःख की बात यह है कि इस देश में सभी धर्म मानो इसी व्याकरण के स्तर पर ठहर गये हैं। धर्म के प्रवक्ता यह नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि उनके अनुगामी इस व्याकरण से ऊपर उठेंगे एवं ऊपर उठकर धर्म की सारवस्तु को उपलब्ध करने की चेष्टा करेंगे। मुझे लगता है कि आज के विश्व में एक अन्तर्राष्ट्रीय धर्म की आवश्यकता है। उस धर्म का पालन इस संसार के सभी मनुष्य करेंगे तथा उस धर्म की मूल बात होगी स्वाधीनता कट्टरवादिता या गोष्ठीतंत्र को वह धर्म प्रश्रय नहीं देगा। व्यक्तिगत रूप से मैं उस अन्तर्राष्ट्रीय धर्म का विश्वासी हूँ।

मैं समझता हूँ कि मोटे तौर पर सभी धर्मों की मूल बात एक ही है। एवं उसे ही हृदयंगम करने में हमलोग विफल हुए हैं। कोई भी धर्मप्रचारक कट्टरता को प्रश्रय नहीं देता। और सभी प्रेम, सहिष्णुता तथा सहृदयता की बात कहते हैं। किसी ने भी नहीं कहा कि मनुष्य के ऊपर जोर-जुल्म करो, मनुष्य की क्षति करो, मनुष्य को कष्ट दो। पता नहीं क्यों, हमलोगों की पाशविक प्रवृत्तियाँ फिर हमारे माथे पर सवार हो जाती हैं। अतएव, मनुष्य का पशु से व्यापक भिन्नता का रहना उचित है। पशु में किसी प्रकार का ममत्व-बोध नहीं होता। वह हिंसा में विश्वास करता है। क्यों करता है? भय से। आज मैं देखता हूँ, हमलोगों के जीवन में भी वही पाशविक मनोभाव घर कर गया है। मुझे लगता है, हमलोग पीछे हट गये हैं। विकास की उर्वर भूमि पर हठात् पाला पड़ गया है। विभिन्न धर्मों की बात छोड़ देता हूँ, आज हमलोग एक परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, यहाँ तक कि सन्तान-संतति के साथ भी वास नहीं कर पाते। हमलोग भी आज अधैर्य और स्वार्थपरायण हो गये हैं। और मेरी यह गलत आशंका नहीं है। चारों ओर के साम्प्रदायिक संघर्ष ही इसके ज्वलंत प्रमाण हैं।

यह एक आश्चर्य की बात है कि इस देश में समस्याएँ खड़ी होती हैं अल्पसंख्यक समुदायों के भीतर ही। मैं अत्यन्त दृढ़तापूर्वक इस बात में विश्वास करता हूँ कि जबतक अल्पसंख्यकगण यह नहीं मानते कि वे भारत के ही नागरिक हैं तबतक इस देश में शान्ति नहीं आयगी। आ सकती नहीं। एवं इसकी उपलब्धि करने पर ही वे धार्मिक क्षेत्र में भी निरापदता का अनुभव करेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि जनसंख्या बढ़ जाने से ही धर्म निरापद होगा, ऐसी धारणा निरर्थक है। मैं जानता हूँ कि इस देश में किसी-किसी धर्म के लोग परिवार नियोजन में विश्वास नहीं करते। किन्तु यदि परिवार भूखा रहता है तब क्या धर्म गुरु उनकी सहायता करने आगे आते हैं? अतएव, अन्धकट्टरता का परित्याग कर अपनी विचार-बुद्धि का प्रयोग करना सबके लिए उचित है। मैं स्वयं की विचार-बुद्धि पर ही निर्भर करता हूँ। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं अधार्मिक हूँ। ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, गुरु नानक, हजरत मुहम्मद, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द सभी मेरे प्रणम्य हैं। सभी देव-देवियों का भी मैं भक्त हूँ। मुझे लगता है कि ये सब विभिन्न भाषाओं में दरअसल एक बात ही कहना चाहते हैं। हम अज्ञानी वह बात समझते नहीं।

फिर इन सब में रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के प्रति मेरी प्रबल भक्ति है। कामारपुकुर और दक्षिणेश्वर जाने का सौभाग्य भी मुझे हुआ है। बड़े मनोयोग के साथ मैंने इन दोनों व्यक्तियों की रचनाओं को पढ़ा है एवं इन दोनों की वाणी को आत्मस्थ करने की चेष्टा की है। ऐसा करने पर मुझे लगता है कि मानव जाति को इन दोनों ने ही सही पथ का निर्देश दिया था। ये दोनों जो कुछ जानते थे, जो कुछ इन्होंने उपलब्ध किया था, वह सब साधना के माध्यम से पाया था।

एवं ये दोनों ही थे संगीत-प्रेमी। उनकी प्रार्थना या उपासना का अभिन्न अंग भी संगीत था। यहाँ तक कि हजरत मुहम्मद का भी संगीत से प्रेम था। किन्तु, दुर्भाग्य की बात है कि कट्टरपंथी मुसलमान संगीत-

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

त्राहिमाम्

डॉ॰ श्रीमती वीणा कर्ण
मगध महिला कॉलेज, पटना

सदा तुम्हारे पद-पंकज पर
झुका रहे यह शीश।
परमहंस हे रामकृष्ण!
करुणा-सागर जगदीश।

भारत-प्राची पर उग आये
ललित ललाम दिनेश।
पाकर भव-पतवार जगत यह
हुआ कृतज्ञ विशेष।

हुआ तुम्हारे पावन पद से
अग-जग कोमल प्राण।
जड़ चेतन का विगलित मन
पा गया मोह से त्राण॥

फिर भी तेरे जाने के दुःख—
से मिलती क्या शान्ति?
मानवता के राजहंस!
मन से विलगाओ भ्रान्ति॥

मन से ग्रहण किया था तुमने
ब्रह्मचर्य निष्काम।
सबने माना सहज भाव से
तुम्हीं कृष्ण औ राम॥

आध्यात्मिक परिवेश तुम्हारा
नहीं जाति का बन्धन।
जलते मानस मन पर लगता नित
ज्यों शुचि शीतल चन्दन॥

किन्तु हुआ वह भाव तिरोहित
आज स्वार्थ के आगे।
भाषा, धर्म नाम पर बँटते
भारत पुत्र अभागे॥

जीने को अभिशप्त हुए हैं
विष घट परायणा से।
विषयासक्त दुराशा झाँके
मन के वातायन से॥

भाग्यहीन भारत ने तुमको
फिर से आज पुकारा।
वीर्यवान बन लक्ष्य प्राप्ति का
दे दो मंत्र दुबारा॥

'यदा यदाहि धर्मस्य' का
आश्वासन वह तेरा।
विश्वप्रेम उज्ज्वल चरित्र का
लाये पुनः सवेरा॥

भारत की माटी पर हम फिर
पूर्णकाम हो जाएँ।
मिलकर पीड़ा बाँटे
मिल कर गीत खुशी के गाएँ॥

जब भी कटुता का काँटा
कर दे अवरुद्ध विवेक।
तेरी अमृत वाणी से
कर लें मन का अभिषेक॥

परमहंस प्रज्ञाप्रसून
हे गंगाजल की धारा।
शंखनाद उद्घोषजन्य
हे पावन रव शुचि सारा॥

वह अद्भुत इतिहास तुम्हारा
जीवन आदर्शों का।
धो डाले अज्ञान तिमिर
जो मन पर है वर्षों का॥

करे अमंगल भाव तिरोहित मानवता के पथ का।
गति होवे निर्बाध मनुज के ईशाराधन-रथ का॥

धारावाहिक

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन कथा

—चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

"दक्षिणेश्वर में वे (ठाकुर) योगीन भाई को माँ-काली का प्रसाद रखने को कहा करते थे। एक दिन मन्दिर से प्रसाद आने में देरी हुई। इस पर वे (ठाकुर) स्वयं ही पता लगाने को काली मन्दिर के दफ्तर में गये। यह देखकर योगीन भाई ने सोचा – अरे! ये तो अब भी वे ही भट्टाचार्य बाम्हन ही हैं, फल-फूल की माया नहीं त्याग सके हैं। योगीन भाई को सोच-विचार में डूबे देखकर अन्तर्यामी ठाकुर ने क्या कहा जानते हो?— 'देख! भक्त एवं साधु-संतों की सेवा के निमित्त रासमणि इतनी सम्पत्ति दान कर गयी है। यहाँ पर (मेरे पास) उसका जो भाग आता है उससे भक्तों और साधुओं की सेवा होती है, और बाकी सब तो बाम्हन लोग अविद्या के लिए ले जाते हैं। तुम लोग खाते हो तो भी उद्देश्य सार्थक होता है।''

एक दूसरे दिन की बात है—"विवाह हो जाने पर योगीन भाई संकोचवश ठाकुर के पास नहीं आते थे। इसीलिए एक दिन ठाकुर ने उनके पास एक आदमी को भेजा। उसे समझा दिया, 'देख! उसे कहना कि यहाँ का पैसा क्यों नहीं लौटाता?' उस व्यक्ति के ऐसा कहने पर योगीन भाई तो आये, परन्तु ठाकुर ने उनसे कहा—"अरे! विवाह किया है तो क्या हो गया? यहाँ आता क्यों नहीं, मैंने भी तो विवाह किया है।' इसी विधि से ठाकुर भक्तों को बुला भेजते थे।

"लोरेन बाबू के अनेक दिनों तक दक्षिणेश्वर न आने पर वे उन्हें बुलाने भेजते थे। कई बार कह देते 'देख! जाकर कहना कि उनकी तबीयत अच्छी नहीं है, हाथ में बड़ी पीड़ा होती हैं; लगता है हाथ की हड्डी टूट गयी है, इसीलिए आपको वहाँ बुलाया है।' वे इसी प्रकार हम लोगों को समझाकर भेजते थे। देखो तो! लोरेन बाबू के प्रति उनका कैसा आकर्षण था।''

लाटू महाराज के सेवक-जीवन की और भी दो-चार घटनाएँ हमने सुनी हैं। दक्षिणेश्वर में जब ठाकुर का हाथ टूट गया था, अब हम उसी काल की घटनाएँ बताएँगे। हम पहले ही कह आये हैं कि कौन सी घटना किस वर्ष हुई थी, यह लाटू महाराज नहीं बता पाते थे। वे अपने दक्षिणेश्वर जीवन को तीन घटनाओं के अन्तवर्ती काल में विभक्त किया करते थे। एक था—दक्षिणेश्वर में स्थायी निवास के समय से विद्यासागर का दर्शन करने अर्थात् १८८२ ई० के अगस्त माह तक का काल; दूसरा था—विद्यासागर महाशय के दर्शन के बाद से ठाकुर का हाथ टूटने के पूर्व तक अर्थात् अगस्त १८८२ ई० से जनवरी १८८४ ई० तक का काल और तीसरा था—ठाकुर का हाथ टूटने के बाद से श्यामपुकुर निवास का अर्थात् जनवरी १८८४ ई० से अगस्त १८८५ ई० तक का काल।

श्री 'म' द्वारा लिखित 'वचनामृत' में हम पाते हैं कि १८८४ ई० के जनवरी और फरवरी महीने में ठाकुर के हाथ पर तख्ती बँधी हुई थी। इसीलिए हम यह कहने का साहस कर सकते हैं कि अब हम जिन घटनाओं का वर्णन करने जा रहे हैं वे १८८४ ई० तथा उसके परवर्ती काल की हैं।

"एक बार वे (ठाकुर) चलते-चलते तार में फँसकर गिर पड़े थे। इससे उनके हाथ की हड्डी च्युत हो गयी थी। मधु डाक्टर ने आकर उस पर पट्टी बांध दी थी। उन दिनों वे जिस किसी को भी देखते, कहने लगते—'देखो तो, राम (श्रीयुत् रामचन्द्र दत्त) कहता है कि मैं अवतार हूँ! आप लोगों का क्या मत है? अवतार के भी कहीं हाथ टूटते सुना है?' इस पर सभी लोग कई तरह के उत्तर देते थे। मास्टर महाशय (श्री म) कहते—'अवतारगण जब मनुष्य होकर आ सकते हैं, तो मानवी लीला में उनका हाथ भी टूट सकता है।' तब जो कोई भी दक्षिणेश्वर आता उसी को हाथ दिखाते और पूछने, 'कह सकते हो कि कैसे ठीक होगा?' इस पर राखाल बाबू बड़े नाराज होते थे। एक दिन तो उन्होंने (राखाल बाबू ने) देवेन बाबू को कह दिया, 'देखिए! उनके सामने आप लोग अब और किसी औषधि का नाम मत लीजिएगा आप लोगों की बात पर विश्वास करके वे दवाई बदल देंगे। ऐसा करने से तो उनका हाथ ठीक नहीं होगा। पूछने पर आप कह दीजिएगा कि जो चल रहा है वही चले, उसी से ठीक हो जाएगा।' देखो; कैसी विचित्र घटना हुई। दवा की शीशी गिरकर टूट गयी।...... उनका हाथ टूट जाने के कारण उस बार उनका जन्मोत्सव स्थगित कर दिया गया। फाल्गुन में नहीं हुआ, वरन् उनका हाथ ठीक हो जाने पर ही उस बार का जन्मोत्सव हुआ था।...

जानते हो! जब उनके हाथ में तख्ती बँधी हुई थी उसी समय केशव बाबू का देहत्याग हुआ। यह समाचार सुनकर एक दिन उन्होंने (ठाकुर) हमसे कहा था—'जानता है! माँ ने दिखाया था कि केशव सेन यहाँ का (मेरा) एक अंग है।"

इसके साथ ही उन्होंने ठाकुर के जीवन की एक अन्य घटना भी कही थी। ऐसा लगता है कि यह घटना लाटू महाराज ने दक्षिणेश्वर में सुनी थी पर देखी नहीं। इसीलिए उन्होंने 'सुना है' शब्द का उपयोग किया है—'सुना है कि एक बार एक मल्लाह ने एक दूसरे मल्लाह को एक थप्पड़ लगा दिया था इस पर वे चिल्ला उठे थे। सबको दिखाया, पीठ पर दाग उभर आया था—वह दाग कैसे हुआ, यह कोई नहीं बोल सका।"

"उनके हाथ में जितने दिनों तक तख्ती बँधी थी, वे कहीं भी नहीं जाते थे। दोपहर में रामलाल (दादा) को बुलाकर रामायण सुनते थे। संध्या के समय कीर्तन होता था, उसमें भाग लेते थे, बीच बीच में भजन गाते थे। सुबह बरामदे में आकर बैठते थे।....एक दिन शरत् बाबू और शशी बाबू आये थे। शशी बाबू को ठाकुर खूब मानते थे। उन्हें रात में ठहर जाने को कहते थे, पर वे नहीं रुकते थे। शरत् बाबू को उन्होंने ईसा मसीह के दल का आदमी कहा था।........

एक दिन हरि बाबू (स्वामी तुरीयानन्द) वहाँ आये थे। उन्हें देखकर ठाकुर ने कहा—'तुम यहाँ बीच-बीच में आते रहना, जब दूसरे लोग न रहें, ऐसे समय आना, समझे?' हरि बाबू सवेरे के समय दक्षिणेश्वर आते थे और दूसरों के आने के पहले ही चले जाते थे, फिर किसी किसी दिन वे दोपहर को आकर सन्ध्या के पूर्व ही कलकत्ता लौट जाते थे।"

"उन्हीं दिनों एक दिन सुरेन्द्र बाबू (श्री सुरेन्द्रनाथ मित्र जिन्हें ठाकुर सुरेश कहकर सम्बोधित करते थे) एक चटाई और तकिया लेकर दक्षिणेश्वर आये और बोले कि यहीं रहूँगा। दो-चार दिन रहे भी, परन्तु बाद में अपनी पत्नी के भय से ठहर न सके। उनकी पत्नी उन्हें रात में कहीं भी ठहरने नहीं देती थी। ठाकुर उनके मन की बात समझ गये, इसीलिए एक दिन बुलाकर कहा, 'अजी सुरेश! तुम्हारी पत्नी को बड़ी चिन्ता हो रही है—चटाई और तकिया लेकर घर जाओ, घर छोड़कर रात दिन यहाँ पड़े रहने की जरूरत नहीं। ये लोग तो हैं, देख-भाल में कोई कमी न होगी। यहाँ आते जाते रहना, जैसा करते थे, वैसा ही करते रहना, तुम्हारा उसी से हो जायगा।"

"जिस साल ठाकुर का हाथ टूटा था, उसी साल

लोरेन बाबू के पिताजी का देहान्त हुआ था। उस समय लोरेन बाबू दक्षिणेश्वर नहीं आ पाते थे। उन दिनों ठाकुर सर्वदा हम लोगों को वहाँ (नरेन्द्रनाथ के घर) भेजते रहते थे। हमारे जाने पर लोरेन बाबू बड़े आनन्दित होते थे। इतनी बड़ी विपत्ति आयी थी और उसके ऊपर भी सगे सम्बन्धियों ने झगड़ा किया था, परन्तु लोरेन बाबू किसी भी तरह हताश नहीं हुए। उनका चेहरा देखकर किसी को आभास तक न होता था कि इतनी बड़ी विपत्ति उनके ऊपर आ पड़ी है। मुझे देखकर वे दक्षिणेश्वर का सारा समाचार पूछते और कहते, 'अरे प्लेटो! एक चीलम तम्बाकू अच्छी तरह लगाकर पिला न!' हुक्का हाथ में लेकर मेरे सामने फायर (fire) करने लगते थे। कितना लेक्चर देते थे जानते हो?"

एक भक्त—क्या लेक्चर देते थे, महाराज? आपके सामने कौन कौन से विषय पर बातें कहते थे? हम लोगों को थोड़ा बताइए न! नरेन्द्रनाथ की जीवनकथा सुनने में हमें बड़ा अच्छा लगता है।

लाटू महाराज—हाँ! सुनने में तुम लोगों को अच्छा लगता है, परन्तु उनके समान तपस्या करना अच्छा नहीं लगता। क्या कहते हो? जानते हो, उस समय वे जो बातें हम लोगों से कहते थे, हममें से कोई भी वैसी बातें नहीं सोचता था। जानते हो वे क्या कहते थे?—'ईश्वर को देखे बिना मैं उन पर विश्वास नहीं कर सकता। उनकी (ठाकुर की) बातों पर मैं विश्वास नहीं कर लूँगा, मुझे अचेत कर 'यह देखो ईश्वर' कहने से मैं उसे नहीं मान लूँगा।' फिर किसी किसी दिन कहते, 'ईश्वर यदि दयामय ही होते तो फिर जगत् में इतना कष्ट क्यों है? तुम लोगों के ईश्वर बड़े निष्ठुर हैं, लोगों को केवल तकलीफ ही देते हैं, ऐसे ईश्वर को मैं नहीं मानूँगा।' किसी किसी दिन वे दूसरा प्रसंग उठाते, कहते, 'वे (ठाकुर) जो कुछ कहते हैं, देखता हूँ कि शास्त्र के साथ सब ठीक ठीक मिल जाता है। उन्होंने तो शास्त्र पढ़े नहीं हैं, फिर उन्हें इतना सब कैसे मालूम हुआ? तुझसे एक बात कहता हूँ प्लेटो। तू ऐसे आदमी का साथ किसी भी हालत में न छोड़ना। उन्हें पकड़े रहना, देखना कि अन्त में तू कितना बड़ा हो जायगा।' ऐसी कितनी ही बातें हुई थीं, सब कुछ क्या याद है, जिस दिन जो भी सुनता, सब आकर उन्हें बतलाता। वे कहते—

'संशय के मेघ छँट जाने पर ही भक्ति का अरुणोदय होता है।'

"देखो! एक दिन* एक बड़ा भारी पंजाबी मुसलमान हनुमन्त सिंह के साथ कुश्ती लड़ने को आया था। मुसलमान बड़े गठीले शरीर का था, पन्द्रह दिन तक उसने खूब कसरत की और खूब घी, दूध, माँस आदि खाता रहा। पहलवान का डीलडौल देखकर सभी डर गये और उसकी ताकत देखकर सबने सोचा कि वही जीतेगा। परन्तु हनुमान सिंह ने वैसा कुछ भी नहीं किया, एक दिन उनका (ठाकुर का) आशीर्वाद लेने आकर सुन गया कि खाना घटाना होगा और दिन भर महावीरजी के शरणापन्न रहना होगा। उनकी (महावीरजी) कृपा रहने पर समस्त शत्रुओं का विनाश हो जाता है। दरवानजी का ठाकुर पर बड़ा विश्वास था और उन्होंने उनकी बात मान ली, इसलिए कुश्ती के दिन उन्हीं की विजय हुई। देखा न, नाम में कितनी शक्ति है! वे हमलोगों को सदा बताया करते थे—'नाम की शक्ति से बड़ी दूसरी कोई शक्ति नहीं।" (क्रमशः)

*यह ठाकुर का हाथ टूटने के कुछ दिन पूर्व की घटना है।

पुरानी कहानी : नयी मिसाल

— एक साधु

शाहंशाह अकबर का दरबार लगा था। आदत के अनुसार अकबर ने बीरवल से पूछा—'बीरवल इस दुनिया में मूर्खों की संख्या अधिक है या विद्वानों की?' इसके बाद की कहानी हर बालक जानता है और चाव से अपने दोस्तों को सुनाता है।

हम सभी इस कहानी को जानते हैं। परन्तु, क्या हम इसके निष्कर्ष को मानते हैं? शायद नहीं। और मानते भी हों तो कम से कम खुद को निश्चित ही बुद्धिमान मानते हैं। कोई ग्वालिन अपने दही को खट्टा नहीं कहती।

हम स्वयं को भले ही मूर्ख न मानें, पर क्या इसमें थोड़ा भी संदेह है कि हम मूढ़ हैं? थोड़ा-सा विचार, थोड़ा अन्तर्दर्शन, थोड़ा विश्लेषण सत्य को उजागर कर देगा। हम जान लेंगे कि हम कितने पानी में हैं, हमारी पैठ कितनी दूर है। सत्य का अन्वेषण करना कठिन है, सत्य का सामना करना असम्भवप्राय।

'बेटे, सत्य बोलो। चोरी मत करो।' हर अभिभावक अपने बालक को इसकी शिक्षा देता हैं। नादान बालक तोता-रटंत की तरह इन 'ब्रह्म-वाक्यो' को दुहराता चलता है। और फिर एक दिन इस बालक का शीशमहल बिना आवाज के धूल-धूसरित हो जाता है जब उसके पिताजी कहते हैं, 'बेटे फलां को कह दो मैं घर में नही हूँ।' बालक का स्वप्निल संसार वास्तविक जगत् के परुष आघात को सह पाने में असमर्थ हो सदा के लिए विदाई माँग लेता है। मौका पड़ते ही बालक अपने अभिभावक द्वारा प्रदर्शित पथ पर अग्रसर हो पड़ता है। पकड़े जाने पर पिटता है, कान पकड़ता है, उठक-बैठक लगाता है।

क्या ये अभिभावक मूढ़ नहीं हैं?

चुनाव की सरगर्मी सबको सिरफिरा बना दे रही है। दो प्रतिपक्षी दलों का जुलूस निकल रहा है। आमना-सामना होते ही कस्बे की सड़क कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में परिवर्तित हो जाती है। अट्ठारह दिन की बजाय यह युद्ध कुछ ही मिनटों तक चलता है। भगदड़ के पश्चात् कुछ टूटी चप्पलें, बिखरे पत्थर और घायल पड़े व्यक्ति क्षणिक आवेश की कहानी सुना रहे हैं। और, नेतागण? शायद कहीं एक साथ बैठकर चाय पी रहे हैं, या फिर सत्ताधारी दल में घुसने का तिकड़म भिड़ा रहे हैं।

क्या साधारण जन मूढ़ नहीं हैं?

कलकत्ते में काली माई, दुर्गा माई के बाद फुटबॉल भाई का स्थान सर्वोच्च है। 'मोहन-बगान' और 'ईस्ट बंगाल' की आबरू की परीक्षा के समय लाखों दर्शनार्थी, श्रवणार्थी अपने-अपने पक्ष को आसमाँ तक पहुँचा देते हैं। मैच की समाप्ति और फसाद की शुरुआत में फ़ासला एक क्षण का भी नहीं रहता। परिणाम—जग जाहिर है।

क्या ये समर्थक विद्वानों की श्रेणी में आते हैं?

'बेताल पच्चीसी' से चलकर हमारा बाल-साहित्य आज 'बेताल-कथाओं' तक पहुँच गया है। हम बड़े भी इन्हें बड़े चाव से पढ़ते हैं। या नहीं तो फिर रेलवे स्टालों पर बिक रही घिनौनी मनोवृत्तियों वाले लेखकों द्वारा लिखी सस्ती, खोखली एवं ऊटपटांग रचनाओं को पढ़कर अपनी यात्रा को 'सुखद' बनाते हैं। यह जानते हुए भी कि इन कहानियों का आदि, अन्त एवम् मध्य क्या है, हम अपना मूल्यवान धन और अमूल्य समय मिट्टी के मोल तौल देते हैं।

इन पाठकों को किस श्रेणी में रखा जाए?

एक बालक अपने जीवन की शुरुआत खिलौने से करता है। युवावस्था में अपने आपको जीवित खिलौनों में भुलाता है, और, बुढ़ापे में अपने नाती-पोतों रूपी खिलौनों में। उसे फुर्सत नहीं कि वह तनिक सोचे कि आखिर हम कौन हैं?'

मूढ़ों की संख्या बढ़ती जा रही है। है न?

चतुर व्यक्ति (और, हरेक व्यक्ति अपने आप को चतुर मानता है) श्री रामकृष्णदेव द्वारा कहे गये उस कौए के समान है जो दूसरों के शौच को खाता फिरता है। हमें इतना समय नहीं कि थोड़ा रुक कर सोचें कि आखिर हम क्या कर रहे हैं, क्यों कर रहे हैं, उचित कर रहे हैं या नहीं? 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' कहावत भले ही सैकड़ों साल पहले कही गयी हो, पर है आज भी चरितार्थ।

क्या समाज में ऐसे लोगों का अभाव है, जो—

जब स्वर्ग सिधारे, तो बड़ी धूम मची।
आँसुओं कि विदाई, और, अखबार में तस्वीर छपी।
समाज में गण्यमान्य थे, लोगों में परिचित।
मरे वे किन्तु, स्वयं से अपरिचित।

देश की दुहाई देने वाले और समाज का कल्याण करनेवालों का अभाव नहीं। परन्तु, स्वयं का वास्तविक उत्थान करने वाले कितने हैं?

अकबर-बीरबल की कहानी भले ही मन-गढ़न्त हो, लोगों के लिए एक अच्छा मजाक हो, पर है एक कटु सत्य। क्षणिक आत्म-विश्लेषण ही पर्याप्त है इसकी अनुभूति के लिए।

क्या यह बेहतर नहीं कि हम अपनी नजरों में अकबर की मिसाल नहीं बनें?

पेज २६ का शेषांश

पसन्द नहीं करते। वे समझते हैं कि "म्युजिक (संगीत) हराम है।" इन लोगों से मेरा केवल एक ही प्रश्न है। दिन में पाँच बार मसजिद में जो नमाज होती है वह क्या संगीत नहीं है? शब्द एवं छन्द ईश्वर की सृष्टि हैं! एवं ये शब्द और छन्द हमलोगों के शरीर के भी अविच्छिन्न अंग हैं। संगीत का अर्थ केवल गीत नहीं है। कथोपकथन (बातचीत) भी संगीत है। यहाँ तक कि रुदन-क्रन्दन भी संगीत है। शब्द है ईश्वर का शब्द। शब्द के नहीं रहने पर, छन्द के नहीं रहने पर, जीवन रहेगा क्या?

यह बात रहने दें। अपनी बात कहूँ। व्यक्तिगत रूप से मैं हर समय अपने मन को खुला रखने की चेष्टा करता हूँ। मैंने जिनसे विवाह किया है, वे हिन्दू हैं। किन्तु किसी दिन भी मैं अपनी पत्नी को उनका धर्म परिवर्तन करने की बात नहीं कहता। कहने की आवश्यकता कभी अनुभव नहीं करता। क्यों करूँगा? मैं करनेवाला कौन हूँ? इसके अतिरिक्त धर्म-परिवर्त्तन करने की आवश्यकता ही कहाँ है? हमलोगों को दो सन्तान हैं। एक की उम्र नौ और दूसरे की सात वर्ष है। वे कभी-कभी पूछते हैं, "हमलोगों का धर्म कौन सा है?" हमलोग किसी भी रूप से उनलोगों के मतामत को प्रभावित करने की चेष्टा नहीं करते। मैं भी नहीं और मेरी पत्नी भी नहीं। निर्णय करने का दायित्व हमलोगों ने उन दोनों पर छोड़ दिया है। हमलोग चाहते हैं कि हमारी सन्तान यह समझे कि उन लोगों के माता-पिता में कोई भी अन्तर नहीं है। अर्थात हिन्दू मुसलमान में कोई भेद नहीं है। हमलोग केवल यह चाहते हैं कि वे दोनों अच्छे मनुष्य को प्यार करना सीखें। और बाकी? वह तो ईश्वर के हाथ है।

विवेक शिखा : एक प्रतिक्रिया

—श्रीमती इन्दिरा राजगढ़िया
पटना

भारत सर्वदा अपनी आध्यात्मिक शक्तियों में विश्व का मार्गदर्शक एवं अग्रणी रहा है। इस गंगा की भूमि ने हमेशा महान सन्तों को जन्म दिया है जिनका जीवन गंगा की तरह ही पवित्र, निर्मल और शांत है। उन महान संतों के संदेश हमें सर्वाङ्गीण विकास की प्रेरणा ही नहीं देते अपितु, उस परम प्रभु के द्वार पर ले जाकर खड़ा कर देते हैं जहाँ वेदान्त इस ध्वनि से हमारे अन्दर प्रतिध्वनित हो उठता है "एकोऽहं बहुस्याम.।"

श्री परमहंस जी महाराज के जीवन ने हमें यह शिक्षा दी कि मन की शांति योग के द्वारा प्राप्त तो की जाती है किन्तु उसमें त्याग और सादगी की आवश्यकता है। उनके जीवन में योग, भक्ति और ज्ञान .का परम और चरम समन्वय है, जहाँ जगदम्बा भगवती आद्या शक्ति साकार और निराकार दोनों रूपों में प्रकट होकर साक्षात् श्री ठाकुर के जीवन में प्रत्यक्ष हो उठती हैं और ठाकुर कभी समाधिस्थ हो जाते हैं तो कभी भजन में भाव विह्वल। यह जीवन की उर्जा का महान सत्ता में विलय है या उद्घोष, यह तो साधक ही समझ पाएँगे।

आज का भारत भौतिकता की ओर इतनी तीव्रता से आगे बढ़ रहा है कि उसके तन, मन का जीवन विप्लवादी, अशांत, उच्छृंखल और स्वार्थी बनता जा रहा है। "क्यों ऐसा हो गया?" मन यह प्रश्न पूछता है पर उत्तर उन्हें ही मिल पाता है जो गम्भीरता से इन संतों के जीवन की पद्धति का अध्ययन करते हैं। उनके जीवन के लक्ष्य और उद्देश्य का अध्ययन करें। संतो ने चाहा कुछ भी नहीं, दिया सब कुछ, जहाँ अशांत मानव केवल शांति ही नहीं पाता अपितु अपने छोटे उद्देश्यों को एक महान उद्देश्य में परिवर्तित कर फिर से उद्घोष कर सकता है "उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।

देश की शिक्षा पद्धति से देववाणी का लोप क्या हमें भारत के महान दर्शन से वंचित नहीं कर रहा है? भारत की कितनी सन्तानें हैं जो आज श्री मद्भगवद्गीता का सन्देश जानती हैं। जहाँ गुरुकुलों में बच्चों की शिक्षा ५ वर्ष की अवस्था में ॐ के स्वरूप से प्रारम्भ की जाती थी वहाँ अब 'A' से आरम्भ होती है। दुःख होता है कि हमारी चीज हम स्वयं खो बैठे और विश्व-बन्धुत्व के उद्घोष को जगाने वाला एवं पालन करने वाला अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, अन्तर्राष्ट्रीय भाषा English की शिक्षा अनिवार्य करके भी भारत के अपने ही घरों में बन्धुत्व की भावना खो बैठा। आज पुनः क्या बच्चों को देववाणी संस्कृत के अध्ययन से भगवद्गीता के श्लोक और वेद ध्वनियाँ नहीं सिखाई जा सकती है? बिलासिता की जगह सादगी, स्वार्थ की जगह त्याग, घृणा की जगह प्रेम और सेवा ये हम नहीं सिखा सकते? मन रो उठता है कि हम अब सचमुच दरिद्र हो गये हैं क्योंकि हमने अपनी आध्यात्मिक शक्तियाँ खो दी हैं, अपनी संस्कृति खो दी है। जीवन का दर्शन खो दिया है और अपने महान् संतों को खो दिया है। केवल इसलिए कि हमारे पास समय नहीं हैं कि उन संतो के पास जाकर बैठ सकें और उनके जीवन से कुछ अपना सकें। गहरा दुःख है कि गंगा के किनारे खड़ा मानव कहता है कि मैं प्यासा हूँ, मुझे पानी चाहिए। संतों के रहते हुए मानव कहता है, मैं अशांत हूँ, मुझे शांति कैसे मिले? ग्रन्थों के रहते हुए मानव कहता है कि हमें क्या करना चाहिए?

आज जीवन का स्तर अर्थ से तोला जाता है, पद

से तौला जाता है, विलासिता से तौला जाता है। हमारी शक्तियाँ एक बड़े भूमिगर्त में दब गयी हैं और हमीं ने दबा भी दी हैं। वे दैवीगुण, वे शक्तियाँ जीवन का स्तर और मापदण्ड होना चाहिए तभी हमारी ऊर्जा पुनः स्वामी विवेकानन्द जी के उद्घोष को समझ पायगी। माँ सारदा जी के जीवन से भारत की अधिकांश माताओं को फिर से सीखना है कि संतानों को उस योग्य बनाओ कि वे बाँटकर खा सकें, प्राप्त धन और पद का सदुपयोग कर सकें एवं सद्ग्रन्थो का अध्ययन कर अपने व्यक्तित्व का सार्वभौम विकास कर सकें। व्यक्तित्व का विकास आर्थिकता में नहीं आध्यात्मिकता में निहित है। त्याग, प्रेम, सेवा और सदाचार में निहित है, संतों के जीवन में निहित है क्योंकि मानव जीवन की चरम अवस्था ही संत जीवन है।

अकस्मात् "विवेक शिखा" वर्ष ६, अंक ५ मई १९८५ का अंक मेजपर पड़ा देखा। नाम अलौकिक और स्वामी विवेकानन्द जी का तेजोमय दिव्य चित्र। मन उधर खिंच गया और पत्रिका पलट कर जैसे ही पन्ना खोला तो लेख था 'बुद्धियोग (२)' स्वामी वेदान्तानन्द जी, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना। प्रथम परिच्छेद था "दूसरी ओर, जो व्यक्ति इन्द्रियों को अपने वश में रखने में समर्थ नहीं है, वह उपयुक्त समय पर शास्त्र की शिक्षा तथा ज्ञानियों से प्राप्त उपदेशों को भूल जाता है। इस प्रकार के असंयत व्यक्ति के लिए भावना अर्थात् ध्यान करना सम्भव नहीं होता। जो ईश्वर अथवा आत्मा के स्वरूप का ध्यान करने में असमर्थ हैं उनके मन में शांति नहीं होती।" इन वाक्यों से मैं इतनी प्रभावित हुई कि सम्पूर्ण लेख जो गीता पर होते हुए भी अपने आप में जीवन की एक अद्भुत अभिव्यक्ति थी, सामने आयी। मैं प्रायः स्वामी वेदान्तानन्द जी के दर्शनों के लिये आश्रम जाने लगी कि सम्भवतः उनके पास जाकर कुछ भी उनसे सीख सकूँ, कुछ ले सकूँ। स्मित हास्य भरा प्रसन्न और शांत व्यक्तित्व, अनेक शारीरिक व्याधियों के होते हुए भी अपने आप में कितना गम्भीर और दिव्य है! उनसे मिलकर मन ने उन्हीं के शब्दों में पुनरावृत्ति की कि "दूसरों की भलाई करने की कामना करना जिसका स्वभाव है वह सुहृत है।" पर मैंने अनुभव किया कि धीर, गम्भीर, शान्त और प्रेम जिनका जीवन है वे संत हैं, वे देश की महान विभूति हैं। हमारी महान संपत्ति हैं।

बड़ी विलक्षण पत्रिका है—विवेकशिखा। विद्वत्समाज के गम्भीर चिन्तनपूर्ण विचार पढ़ने को मिले उसमें। इस प्रकार की अद्भुत पत्रिकाओं के द्वारा हमारे पास हमारे शास्त्रों के और संतों के विचार हमतक पहुँचे और पहुँचते रहें इससे उत्तम और क्या हो सकता है? पटने में रहकर भी मैं बहुत अनभिज्ञ थी और गंगा के किनारे प्यासी। जबकि परम प्रभु का अनुग्रह है कि उत्तराखण्ड की भूमि के अनेक महान संतों का आशीर्वाद, स्नेह और सान्निध्य मुझे प्राप्त होते रहते हैं। यह श्री ठाकुर का अनुग्रह भी है और संतों की कृपालुता भी तभी तो "सम्पादकीय सम्बोधन" कि "आवत एहि सर नहिं कठिनाई" जीवन में फलीभूत हो सकेगा।

□

"केवल पुस्तक पढ़ने से चैतन्य नहीं होता। उन्हें पुकारना चाहिए। व्याकुल होने पर कुलकुण्डलिनी जागृत होती है। सुनकर या किताबें पढ़कर जो ज्ञान होता है उससे क्या होगा?"

—श्रीरामकृष्ण